॥ श्रीहरिः ॥

2066

श्रीनाभादासजीकृत

श्रीभक्तमाल

[श्रीप्रियादासजीकृत भक्तिरसबोधिनी टीका एवं विस्तृत हिन्दी व्याख्यासहित]

गीताप्रेस, गोरखपुर

2066

॥ श्रीहरि: ॥

श्रीनाभादासजीकृत

श्रीभक्तमाल

[श्रीप्रियादासजीकृत भक्तिरसबोधिनी टीका
एवं विस्तृत हिन्दी व्याख्यासहित]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

प्राचीनबर्हिजी, सत्यव्रतजी, रहूगणजी, सगरजी, भगीरथजी, महर्षि वाल्मीकिजी, श्वपच वाल्मीकिजी और मिथिलापुरीके राजा आदि जो-जो गोविन्द भगवान्को प्राप्त करनेवाले मार्गपर चले। रुक्मांगदजी, हरिश्चन्द्रजी, भरतजी, परम उदार दधीचिजी, सुरथजी, सुधन्वाजी, शिविजी, अति शुद्ध बुद्धिवाली बलिकी पत्नी विन्ध्यावलीजी, नीलध्वजजी, मोरध्वजजी, ताम्रध्वजजी और अलर्कजी—इन सभी भक्तोंकी कीर्तिमें मेरा अनुराग हो, मैं उस रंगमें रँग जाऊँ। इनके चरणकमलोंकी धूलिको मैं प्रत्येक जन्ममें माँगता हूँ॥ ११॥

श्रीनाभादासजीद्वारा परिगणित भगवत्प्राप्तिके मार्गपर चलनेवाले इन भक्तजनोंका पावन चरित संक्षेपमें इस प्रकारसे वर्णित है—

श्रीप्राचीनबर्हिजी

आदिराज महाराज पृथुके विमल वंशमें श्रीहविर्धानकी पत्नी हविर्धानीसे बर्हिषद्, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य और जितव्रत नामके छः पुत्र पैदा हुए। इनमें महाभाग बर्हिषद् यज्ञादि कर्मकाण्ड और योगादिमें कुशल थे। अपने परम-प्रभावके कारण उन्होंने प्रजापतिका पद प्राप्त किया। राजा बर्हिषद्ने एक स्थानके बाद दूसरे स्थानमें लगातार इतने यज्ञ किये कि यह सारी भूमि पूर्वकी ओर अग्रभाग करके फैलाये हुए कुशोंसे पट गयी थी। इसीसे आगे चलकर ये प्राचीनबर्हिके नामसे विख्यात हुए। राजा प्राचीनबर्हिने ब्रह्माजीके कहनेसे समुद्रकी कन्या शतद्रुतिसे विवाह किया था। जिससे प्रचेता नामके दस पुत्र हुए थे। जिनका वर्णन पूर्व आ चुका है।

राजा प्राचीनबर्हिका चित्त कर्मकाण्डमें बहुत रम गया था। इनकी अगाध कर्मनिष्ठाको देखकर देवर्षि नारदजीने विचार किया कि यदि यह निष्ठा भगवान्में लग जाती तो राजाका कल्याण हो जाता। दूसरी बात यह भी थी कि विविध धर्मानुष्ठानोंसे इनका हृदय शुद्ध भी हो गया था, अतः ये अब उपदेशके परम अधिकारी भी हो गये हैं, यह विचारकर एक बार अध्यात्म-विद्या-विशारद, परम-कृपालु श्रीनारदजीने आकर उन्हें तत्त्वोपदेश दिया।

श्रीनारदजीने कहा—राजन्! इन कर्मोंके द्वारा तुम अपना कौन-सा कल्याण चाहते हो? दुःखके आत्यन्तिक नाश और परमानन्दकी प्राप्तिका नाम कल्याण है, वह तो कर्मोंसे मिलनेका नहीं। यथा—**'नास्त्यकृतः कृतेन।'** (मुण्डकोपनिषद्) अर्थात् किये जानेवाले कर्मोंसे अकृत अर्थात् स्वतःसिद्ध नित्य परमेश्वर निश्चय ही नहीं मिल सकते। राजाने कहा—महाभाग नारदजी! मेरी बुद्धि कर्ममें फँसी हुई है, इसलिये मुझे परम कल्याणका कोई पता नहीं है। आप ही मुझे विशुद्ध ज्ञानका उपदेश दीजिये, जिससे मैं इस कर्मबन्धनसे छूट जाऊँ; क्योंकि जो पुरुष कपटधर्ममय गृहस्थाश्रममें ही रहता हुआ पुत्र, स्त्री और धनको ही परम पुरुषार्थ मानता है, वह अज्ञानवश संसारारण्यमें ही भटकता रहता है। उसे परम कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। प्राचीनबर्हिने स्वर्गकी कामनासे बहुत ही हिंसाप्रधान यज्ञ भी किये थे। श्रीनारदजीने कृपा करके राजाको दिव्य दृष्टि देकर कहा—राजन्! देखो, देखो, तुमने यज्ञमें निर्दयतापूर्वक जिन हजारों पशुओंकी बलि दी है—उन्हें आकाशमें देखो। ये सब तुम्हारे द्वारा दी गयी पीड़ाको याद करते हुए बदला लेनेके लिये तुम्हारी बाट देख रहे हैं। जब तुम मरकर परलोकमें जाओगे। तब ये अत्यन्त क्रोधमें भरकर तुम्हें अपनी लोहेकी सींगोंसे छेदेंगे। अरे! यज्ञमें पशुओंकी बलि देनेवालेकी तो बात ही क्या, पशुबलिका समर्थन करनेवाला पतित हो जाता है।

इस प्रकार उपदेश देकर नारदजी सिद्धलोकको चले गये, तब राजर्षि प्राचीनबर्हि भी प्रजापालनका भार अपने पुत्रोंको सौंपकर तपस्या करनेके लिये कपिलाश्रमको चले गये। वहाँ उन्होंने समस्त विषयोंकी आसक्ति

छोड़ एकाग्र मनसे भक्तिपूर्वक श्रीहरिके चरणकमलोंका चिन्तन करते हुए सारूप्य पद प्राप्त किया।

श्रीसत्यव्रतजी

श्रीसत्यव्रतकी कथा छप्पय ५ मत्स्यावतारके प्रसंगमें आयी है।

राजा रहूगण और जड़भरतजी

प्राचीनकालमें भरत नामके एक महान् प्रतापी एवं भगवद्भक्त राजा हो गये हैं, जिनके नामसे यह देश 'भारतवर्ष' कहलाता है। अन्त समयमें उनकी एक मृगशावकमें आसक्ति हो जानेके कारण उन्हें मृत्युके बाद मृगका शरीर मिला और मृगशरीर त्यागनेपर वे उत्तम ब्राह्मणकुलमें जडभरतके रूपमें अवतीर्ण हुए। जडभरतके पिता आंगिरस गोत्रके वेदपाठी ब्राह्मण थे और बड़े सदाचारी एवं आत्मज्ञानी थे। वे शम, दम, सन्तोष, क्षमा, नम्रता आदि गुणोंसे विभूषित थे और तप, दान तथा धर्माचरणमें रत रहते थे। भगवान्‌के अनुग्रहसे जडभरतको अपने पूर्वजन्मकी स्मृति बनी हुई थी। अत: वे फिर कहीं मोहजालमें न फँस जायँ, इस भावसे बचपनसे ही नि:संग होकर रहने लगे। उन्होंने अपना स्वरूप जान-बूझकर उन्मत्त, जड, अन्धे और बहिरेके समान बना लिया और इसी छद्मवेषमें वे निर्द्वन्द्व होकर विचरने लगे। उपनयनके योग्य होनेपर पिताने उनका यज्ञोपवीत-संस्कार करवाया और वे उन्हें शौचाचारकी शिक्षा देने लगे। परंतु वह आत्मनिष्ठ बालक जान-बूझकर पिताकी शिक्षाके विपरीत ही आचरण करता। ब्राह्मणने उन्हें वेदाध्ययन करानेके विचारसे पहले चार महीनोंतक व्याहृति, प्रणव और शिरके सहित त्रिपदा गायत्रीका अभ्यास कराया; परंतु इतने दीर्घकालमें वे उन्हें स्वर आदिके सहित गायत्री-मन्त्रका उच्चारण भी ठीक तरहसे नहीं करा सके। कुछ समय बाद जडभरतके पिता अपने पुत्रको विद्वान् देखनेकी आशाको मनमें ही लेकर इस असार-संसारसे चल बसे और इनकी माता इन्हें तथा इनकी बहनको इनकी सौतेली माँको सौंपकर स्वयं पतिका सहगमनकर पतिलोकको चली गयीं।

पिताका परलोकवास हो जानेपर इनके सौतेले भाइयोंने, जिनका आत्मविद्याकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं था और जो कर्मकाण्डको ही सब कुछ समझते थे, इन्हें जडबुद्धि एवं निकम्मा समझकर पढ़ानेका आग्रह ही छोड़ दिया। जडभरतजी भी जब लोग इनके स्वरूपको न जानकर इन्हें जड-उन्मत्तादि कहकर इनकी अवज्ञा करते, तब वे उन्हें जड और उन्मत्तका-सा ही उत्तर देते। लोग इन्हें जो कोई भी काम करनेको कहते, उसे ये तुरंत कर देते। कभी बेगारमें, कभी मजदूरीपर, किसी समय भिक्षा माँगकर और कभी बिना उद्योग किये ही जो कुछ बुरा-भला अन्न इन्हें मिल जाता, उसीसे ये अपना निर्वाह कर लेते थे। स्वादकी बुद्धिसे तथा इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये कभी कुछ न खाते थे; क्योंकि उन्हें यह बोध हो गया था कि स्वयं अनुभवरूप आनन्दस्वरूप आत्मा मैं ही हूँ और मान-अपमान, जय-पराजय आदि द्वन्द्वोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दु:खसे वे सर्वथा अतीत थे। वे सर्दी, गरमी, वायु तथा बरसातमें भी वृषभके समान सदा नग्न रहते। इससे उनका शरीर पुष्ट और दृढ़ हो गया था। वे भूमिपर शयन करते, शरीरमें कभी तेल आदि नहीं लगाते थे और स्नान भी नहीं करते थे, जिससे उनके शरीरपर धूल जम गयी थी और उनके उस मलिन वेषके अन्दर उनका ब्रह्मतेज उसी प्रकार छिप गया था, जैसे हीरेपर मिट्टी जम जानेसे उसका तेज प्रकट नहीं होता। वे कमरमें एक मैला-सा वस्त्र लपेटे रहते और शरीरपर एक मैला-सा जनेऊ डाले रहते, जिससे लोग इन्हें जातिमात्रका ब्राह्मण अथवा अधम ब्राह्मण समझकर इनका तिरस्कार करते। परंतु ये इसकी तनिक भी परवा नहीं करते थे। इनके भाइयोंने जब देखा कि ये दूसरोंके यहाँ मजदूरी करके पेट पालते हैं, तब उन्होंने लोकलज्जासे इन्हें धानके खेतमें क्यारी इकसार करनेके कार्यमें नियुक्त कर दिया; किंतु कहाँ मिट्टी अधिक

डालनी चाहिये और कहाँ कम डालनी चाहिये—इसका इन्हें बिल्कुल ध्यान नहीं रहता और भाइयोंके दिये हुए चावलके दानोंको, खलको, भूसीको, घुने हुए उड़द और बरतनमें लगी हुई अन्नकी खुरचन आदिको बड़े प्रेमसे खा लेते।

× × ×

एक दिन किसी लुटेरोंके सरदारने सन्तानकी कामनासे देवी भद्रकालीको नरबलि देनेका संकल्प किया। उसने इस कामके लिये किसी मनुष्यको पकड़कर मँगवाया, किंतु वह मरणभयसे इनके चंगुलसे छूटकर भाग गया। उसे ढूँढ़नेके लिये उसके साथियोंने बहुत दौड़-धूप की, परंतु अँधेरी रातमें उसका कहीं पता न चला। अकस्मात् दैवयोगसे उनकी दृष्टि जडभरतजीपर पड़ी, जो एक टाँगपर खड़े होकर हरिन, सूअर आदि जानवरोंसे खेतकी रखवाली कर रहे थे। इन्हें देखकर वे लोग बहुत प्रसन्न हुए और 'यह पुरुष-पशु उत्तम लक्षणोंवाला है, इसे देवीकी भेंट चढ़ानेसे हमारे स्वामीका कार्य अवश्य सिद्ध होगा।' यह समझकर वे लोग इन्हें रस्सीसे बाँधकर देवीके मन्दिरमें ले गये। उन्होंने इन्हें विधिवत् स्नान कराकर कोरे वस्त्र पहनाये और आभूषण, पुष्पमाला और तिलक आदिसे अलंकृतकर भोजन कराया; फिर गान, स्तुति एवं मृदंग तथा मजीरोंका शब्द करते हुए इन्हें देवीके आगे ले जाकर बिठा दिया। तदनन्तर पुरोहितने उस पुरुष-पशुके रुधिरसे देवीको तृप्त करनेके लिये मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित किये हुए कराल खड्गको उठाया और चाहा कि एक ही हाथसे उनका काम तमाम कर दें। इतनेमें ही उसने देखा कि मूर्तिमेंसे बड़ा भयंकर शब्द हुआ और साक्षात् भद्रकालीने मूर्तिमेंसे प्रकट होकर पुरोहितके हाथसे तलवार छीन ली और उसीसे उन पापी दुष्टोंके सिर काट डाले।

× × ×

एक दिनकी बात है, सिन्धुसौवीर देशोंका राजा रहूगण तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे कपिलमुनिके आश्रमको जा रहा था। इक्षुमती नदीके तीरपर पालकी उठानेवालोंमें एक कहारकी कमी पड़ गयी। दैवयोगसे महात्मा जडभरतजी आ पहुँचे। कहारोंने देखा कि 'यह मनुष्य हट्टा-कट्टा, नौजवान और गठीले शरीरका है, अतः यह पालकी ढोनेमें बहुत उपयुक्त होगा।' इसलिये उन्होंने इनको जबरदस्ती पकड़कर अपनेमें शामिल कर लिया। पालकी उठाकर चलनेमें हिंसा न हो जाय, इस भयसे बाणभर आगेकी पृथ्वीको देखकर वहाँ कोई कीड़ा, चींटी आदि तो नहीं है—यह निश्चय करके आगे बढ़ते थे। इस कारण इनकी गति दूसरे पालकी उठानेवालोंके साथ एक-सरीखी नहीं हुई और पालकी टेढ़ी होने लगी। तब राजाको उन पालकी उठानेवालोंपर बड़ा क्रोध आया और वह उन्हें डाँटने लगा। इसपर उन्होंने कहा कि 'हमलोग तो ठीक चल रहे हैं, यह नया आदमी ठीक तरहसे नहीं चल रहा है।' यह सुनकर राजा रहूगण, यद्यपि उनका स्वभाव बहुत शान्त था, क्षत्रियस्वभावके कारण कुछ तमतमा उठे और जडभरतजीके स्वरूपको न पहचान उन्हें बुरा-भला कहने लगे। जडभरतजी उनकी बातोंको बड़ी शान्तिपूर्वक सुनते रहे और अन्तमें उन्होंने उनकी बातोंका बड़ा सुन्दर और ज्ञानपूर्ण उत्तर दिया। राजा रहूगण भी उत्तम श्रद्धाके कारण तत्त्वको जाननेके अधिकारी थे। जब उन्होंने इस प्रकारका सुन्दर उत्तर उस पालकी ढोनेवाले मनुष्यसे सुना, तब उनके मनमें यह निश्चय हो गया कि हो-न-हो ये कोई छद्मवेषधारी महात्मा हैं। अतः वे अपने बड़प्पनके अभिमानको त्यागकर तुरंत पालकीसे नीचे उतर पड़े और लगे उनके चरणोंमें गिरकर गिड़गड़ाने और क्षमा माँगने। तब जड़भरतजीने राजाको अध्यात्मतत्त्वका बड़ा सुन्दर उपदेश दिया*, जिसे सुनकर राजा कृतकृत्य हो गये और अपनेको धन्य मानने लगे।

* जड़भरतजीद्वारा राजा रहूगणको दिये उपदेशका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवतके पंचम स्कन्धके अध्याय ११ से १४ तक देखना चाहिये।

श्रीसगरजी

इक्ष्वाकुवंशमें राजा हरिश्चन्द्र नामके चक्रवर्ती सम्राट् थे। उनके पुत्रका नाम रोहित था। रोहितसे हरितका और हरितसे चम्पका जन्म हुआ, जिसने चम्पापुरी बसायी। चम्पका सुदेव, सुदेवका विजय, विजयका भरुक, भरुकका वृक और वृकका पुत्र हुआ बाहुक। शत्रुओंने बाहुकसे राज्य छीन लिया तो वे अपनी पत्नीके साथ वनमें चले गये। वनमें जानेपर बुढ़ापेके कारण जब उनकी मृत्यु हो गयी तो उनकी पत्नी भी उनके साथ सती होनेको उद्यत हुईं; परंतु महर्षि और्वको यह मालूम था कि रानी गर्भवती हैं, अत: उन्होंने उन्हें सती होनेसे रोक दिया। जब उनकी सौतोंको यह बात मालूम हुई तो उन्होंने रानीको भोजनमें विष मिलाकर दे दिया। परंतु ईश्वर-कृपासे गर्भपर उस विषका कोई प्रभाव नहीं हुआ और विष (गर)-सहित बालकका जन्म हुआ था, अत: वह बालक 'सगर' नामसे प्रसिद्ध हुआ।

सगर चक्रवर्ती सम्राट् थे। उन्हींके पुत्रोंने पृथ्वी खोदकर समुद्र बना दिया था। सगरके पिता महाराज बाहुकका राज्य तालजंघ, यवन, शक, हैहय और बर्बर जातिके लोगोंने छीन लिया था। सगरने गुरुदेव और्वसे सम्पूर्ण धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्तकर इन जातियोंपर आक्रमण कर दिया और बुरी तरह पराजित कर दिया; परंतु अपने गुरुदेव और्वकी आज्ञा मानकर उन सबका वध नहीं किया, बल्कि उन्हें विरूप बना दिया।

इसके बाद राजा सगरने और्व ऋषिके उपदेशानुसार अश्वमेध यज्ञके द्वारा भगवान्‌की आराधना की। उनके यज्ञमें जो घोड़ा छोड़ा गया, उसे इन्द्रने चुरा लिया। उस समय महारानी सुमतिके गर्भसे उत्पन्न साठ हजार सगर-पुत्रोंने अपने पिताके आज्ञानुसार घोड़ेके लिये सारी पृथ्वी छान डाली। खोदते-खोदते उन्हें पूर्व और उत्तरके कोनेमें कपिलमुनिके पास अपना घोड़ा दिखायी दिया। घोड़ेको देखकर वे साठ हजार राजकुमार शस्त्र उठाकर यह कहते हुए उनकी ओर दौड़ पड़े कि 'यही हमारे घोड़ेको चुरानेवाला चोर है। देखो तो सही, इसने इस समय कैसे आँखें मूँद रखी हैं। यह पापी है। इसको मार डालो, मार डालो!' उन उद्दण्ड राजकुमारोंने कपिलमुनि-जैसे महापुरुषका तिरस्कार किया था, जिसके कारण उन सबके शरीरमें ही आग जल उठी और वे सब-के-सब क्षणभरमें भस्मीभूत हो गये।

महाराज सगरकी दूसरी पत्नीसे असमंजस नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। असमंजस पूर्वजन्मके योगी थे, अत: उन्होंने वनमें जाकर योगमार्गका अनुसरण किया। असमंजसके पुत्रका नाम था अंशुमान्। वह अपने पितामह महाराज सगरका आज्ञाकारी था। उनकी आज्ञासे अंशुमान् घोड़ेको ढूँढ़नेके लिये निकला। वह भी उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कपिलमुनिके आश्रमपर पहुँचा। वहाँ उसे अपने चाचाओंके शरीरकी भस्म, यज्ञीय अश्व और भगवान् कपिलमुनिके दर्शन हुए। अंशुमान्‌ने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और एकाग्र मनसे उनकी स्तुति की। अंशुमान्‌की विनम्रता और साधुभावसे भगवान् कपिल बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'वत्स अंशुमन्! यह घोड़ा तुम्हारे पितामहका यज्ञपशु है। इसे तुम ले जाओ। तुम्हारे भस्मीभूत हुए चाचाओंका उद्धार केवल गंगाजलसे होगा और कोई उपाय नहीं है।' अंशुमान्‌ने बड़ी नम्रतासे उन्हें प्रसन्न किया और उनकी परिक्रमा करके वे घोड़ेको ले आये। राजा सगरने उस यज्ञपशुद्वारा यज्ञकी शेष क्रिया पूरी की और अंशुमान्‌को राज्यभार सौंप स्वयं विषयोंसे नि:स्पृह और बन्धनमुक्त हो गये। उन्होंने महर्षि और्वके बतलाये मार्गसे परमपदकी प्राप्ति की।

श्रीभगीरथजी

इक्ष्वाकुवंशीय सम्राट् दिलीपके पुत्र ही भगीरथ नामसे विख्यात हुए। उनके पूर्वपुरुषोंने कपिलकी क्रोधाग्निसे भस्मीभूत सगरपुत्रोंका उद्धार करनेके लिये गंगाजीको लानेकी बड़ी चेष्टा की और तपस्या करते-करते प्राण त्याग दिये, परन्तु कृतकार्य न हुए। अब महाराज भगीरथ राज्यसिंहासनपर आरूढ़ हुए। ये बड़े

प्रतापशाली राजा थे। ये देवताओंकी सहायता करनेके लिये स्वर्गमें जाते और इन्द्रके साथ उनके सिंहासनपर बैठकर सोमरस पान करते। इनकी प्रजा सब प्रकारसे सुखी थी। इनकी उदारता, प्रजावत्सलता और न्यायशीलताकी प्रख्याति घर-घरमें थी। इनके मनमें यदि कोई चिन्ता थी तो यही कि अबतक भूतलपर गंगाजी नहीं आयीं और मेरे पूर्वजोंका उद्धार नहीं हुआ। एक दिन उन्होंने राज्यभार मन्त्रियोंको सौंप दिया और स्वयं तपस्या करनेके लिये निकल पड़े। गोकर्ण नामक स्थानपर जाकर इन्होंने घोर तपस्या की। ब्रह्माने सन्तुष्ट होकर इनसे वर माँगनेको कहा। तब भगीरथने कहा—'प्रभो! कोई ऐसा उपाय करें, जिससे हमारे पितरोंको दो अंजलि गंगाजल मिल जाय और गंगाजी आकर उनकी राखको सींच दें, तब उनके उद्धारमें कोई शंका नहीं रह जायगी।' ब्रह्माजीने कहा—'हिमालयकी ज्येष्ठ कन्या गंगा शीघ्र पृथ्वीपर अवतीर्ण होंगी। अतः उनका वेग धारण करनेके लिये महादेवकी आराधना करो। तब तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो सकेगी।' तत्पश्चात् पैरके एक अँगूठेपर खड़े रहकर उन्होंने एक वर्षतक शिवकी आराधना की। भगवान् शंकर उनपर प्रसन्न हुए और उन्होंने गंगाधारणकी बात स्वीकार की। उस समय गंगा प्रबल वेगसे शिवके सिरपर गिरने लगीं। वे मनमें ऐसा सोच रही थीं कि अपने प्रबल वेगमें बहाकर शंकरको भी रसातल ले जाऊँ। महादेव उनके मनकी बात जानकर बड़े कुपित हुए और अपने जटाजालमें उन्हें छिपा लिया। गंगाजी चेष्टा करके भी बाहर न निकल सकीं। भगीरथने शंकरकी बड़ी प्रार्थना की, तब कहीं उन्होंने गंगाको निकालकर विन्दुसरोवरकी ओर छोड़ दिया। इसीसे गंगाकी सात धाराएँ हो गयीं। उनमेंसे एकने ही भगीरथका अनुगमन किया। भगीरथ दिव्य रथपर चढ़कर गंगाके आगे-आगे चलते हुए वर्तमान गंगासागरके पास पहुँचे, जहाँ कपिलकी तीव्र दृष्टिसे उनके पूर्वपुरुष भस्म हुए थे। यों तो मार्गमें कई विघ्न पड़े, परंतु वे भगवान्‌की कृपासे सबसे बचते गये। वहाँ जाकर गंगाने उनके चाचाओंकी भस्मराशिको अपनी धारासे प्लावित कर दिया, जिससे उन सबोंने सद्गति प्राप्त की।

श्रीमद्भागवतमें गंगाजीके अवतीर्ण होनेके पूर्व उनके और राजा भगीरथके बीचमें जो बातचीत हुई, उसका बड़ा सुन्दर वर्णन आता है। गंगाजीने भगीरथसे कहा कि 'भूतलके प्राणी जब मेरे अन्दर स्नान करके अपने पापोंको धोयेंगे तो उनके वे पाप मेरे अन्दर प्रवेश कर जायँगे, उनसे मेरा छुटकारा कैसे होगा?' राजा भगीरथने गंगाजीके प्रश्नका जो उत्तर दिया, उससे साधुओंकी अगाध महिमा प्रकट होती है। भगीरथने कहा—'जिनकी विषयवासना निर्मूल हो गयी है और जो शान्त, ब्रह्मनिष्ठ एवं संसारको पावन करनेवाले हैं, ऐसे महापुरुष जब तुम्हारे अन्दर स्नान करेंगे तो उनके अंग-स्पर्शसे तुम्हारे अन्दर प्रविष्ट हुए सारे पातक धुल जायँगे, क्योंकि सारे पातकोंका नाश करनेवाले श्रीहरि उनके हृदयमें सदा विराजमान रहते हैं।' जगत्‌को पावन करनेवाली श्रीगंगाजी भी जिनके स्पर्शसे पवित्र होती हैं, उन सन्तोंकी महिमाका कहाँतक वर्णन किया जाय!

देवीभागवतमें वर्णन है कि गंगाको लानेके लिये भगीरथने श्रीकृष्णकी आराधना की थी और बृहन्नारदीयके अनुसार भृगुमुनिके उपदेशसे हिमालयपर जाकर इन्होंने भगवान् नारायणकी आराधना की और उन्हींके प्रसाद एवं वरदानसे गंगाजी भूतलपर अवतीर्ण हुईं। चाहे जो हो—कल्पभेदसे सभी ठीक है—महाराज भगीरथने हम भूतलवासियोंको एक ऐसी अमूल्य निधि दान की, जिससे हम जबतक सृष्टि रहेगी, उनके ऋणी रहेंगे और उनके यशःसंगीतका गायन करते रहेंगे। उन्होंने अपने पितरोंके बहाने हम सबका उद्धार कर दिया। हमारे हाथमें परम कल्याणका गुप्त मन्त्र दे दिया। इससे बढ़कर हमारा और कौन-सा उपकार हो सकता है? विभिन्न पुराणोंमें इनके विभिन्न पुत्रोंका वर्णन आता है और इनकी पितृभक्ति, गुरुभक्ति एवं भगवद्भक्तिका बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। पुराणोंद्वारा उनका अनुशीलन किया जा सकता है।

महर्षि वाल्मीकि

जन्म पुनि जन्म को न मेरे कछु सोच अहो, सन्तपदपंकज रेनु सीस पर धारिये।
पराचीनबर्हि आदि कथा परसिद्ध जग, उभै बालमीकि बात चित्त तैं न टारिये॥
भये भील सङ्ग भील ऋषि सङ्ग ऋषि भये, भये राम दरसन लीला विसतारिये।
जिन्हें जग गाय किहूँ सकै न अघाय चाय, भाय भरि हियोभरि नैन भरि ढारिये॥ ७४॥

प्रियादासजी नाभाजीके हार्दिक भावको व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अहो! यदि मुझे बार-बार जन्म लेकर संसारमें आना पड़े तो इसकी मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं है; क्योंकि इससे बड़ा भारी लाभ होगा कि सन्तोंके चरणकमलोंकी रज सिरपर धारण करनेका शुभ अवसर मिलेगा। प्राचीनबर्हि आदि भक्तोंकी कथाएँ पुराण-इतिहासमें वर्णित हैं, परंतु महर्षि वाल्मीकि और श्वपचभक्त वाल्मीकि—इन दोनोंकी कथाको चित्तसे कभी दूर नहीं करना चाहिये। महर्षि वाल्मीकि पहले भीलोंका साथ पाकर भीलोंका-सा आचरण करनेवाले हो गये। फिर ऋषियोंका संग पाकर ऋषि हो गये। उन्हें श्रीरघुनाथजीके दर्शन हुए। उन्होंने अपनी वाल्मीकिरामायणमें श्रीरामजीके चरित्रका विस्तारपूर्वक ऐसा उत्तम वर्णन किया है, जिन्हें गाते और सुनते हुए संसार तृप्त नहीं होता है। श्रोताओं और वक्ताओंके हृदय उत्कट प्रेमानुरागमय भावोंसे भर जाते हैं, फिर आनन्दवश नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है॥ ७४॥

श्रीरामकथाका गुणगान करनेवाले महर्षि वाल्मीकिजीका पावन चरित संक्षेपमें इस प्रकार है—

राम त्वन्नाममहिमा वर्ण्यते केन वा कथम्।
यत्प्रभावादहं राम ब्रह्मर्षित्वमवाप्तवान्॥*

भगवन्नामके जपसे मनुष्य क्या-से-क्या हो सकता है, इसके ज्वलन्त उदाहरण भगवान् वाल्मीकि हैं! इनका जन्म तो अंगिरागोत्रके ब्राह्मणकुलमें हुआ था, किन्तु डाकुओंके संसर्गमें रहकर ये लूट-मार और हत्याएँ करने लगे। जो भी आता उसीको लूटते और कोई कुछ कहता तो उसे जानसे मार देते। इस प्रकार बहुत वर्षोंतक ये इस लोकनिन्दित क्रूर कर्मको करते रहे।

इस संसारचक्रमें घूमते-घूमते जब जीवके उद्धार होनेके दिन आते हैं, तब उसे साधुसंगति प्राप्त होती है। जिसे भगवत्कृपासे साधुसंगति प्राप्त हो गयी और साधु-सन्त उसपर अहैतुकी कृपा करने लगे तब समझना चाहिये कि अब इसके उद्धारका समय आ गया। वाल्मीकिजीके भी उद्धारके दिन आ गये। एक दिन उन्होंने देखा उधरसे नारदजी चले आ रहे हैं। उन्हें देखते ही ये उनके ऊपर झपटे और बोले—'जो कुछ है उसे रख दो, नहीं तो जीवनसे हाथ धोना पड़ेगा।'

नारदजीने बड़े ही कोमल स्वरमें हँसते-हँसते कहा—'हमारे पास और है ही क्या? यह वीणा है, एक वस्त्र है; इसे लेना चाहो तो ले लो, जानसे क्यों मारते हो?'

वाल्मीकिजीने कहा—'वीणाका क्या करते हो, थोड़ा गाकर सुनाओ।' नारदजीने मधुर स्वरसे भगवान्के त्रैलोक्यपावन नामोंका कीर्तन किया। कीर्तन सुनकर वाल्मीकिका हृदय पसीजा। कठोर हृदयमें दयाका संचार हुआ और चित्तमें कुछ कोमलता आयी। देवर्षिने कृपावश उनसे कहा—'तुम व्यर्थमें जीवहिंसा क्यों करते हो? प्राणियोंके वधके समान कोई दूसरा पाप नहीं है।' यह सुनकर वाल्मीकिजीने कहा—'भगवन्! मेरा परिवार बड़ा है, उनकी आजीविकाका दूसरा कोई प्रबन्ध नहीं। वे सब मेरे सुख-दुःखके साथी हैं, उनका भरण-पोषण मुझे करना होता है; यदि मैं लूटपाट न करूँ तो वे क्या खायँ?' नारदजीने कहा—'तुम जाकर

* हे रामजी! तुम्हारे नामकी महिमाको कौन कह सकता है, जिसके प्रभावसे मैंने ब्रह्मर्षिपद प्राप्त कर लिया!

अपने परिवारवालोंसे पूछो कि वे खानेके ही साथी हैं या तुम्हारे पापमें भी हिस्सा बँटायेंगे।'

मनमें कुछ दुविधा हो गयी, इन्होंने समझा कि ये महात्मा इस प्रकार बहाना बनाकर भागना चाहते हैं। उनके मनकी बात जानकर सर्वज्ञ ऋषि बोले—'तुम विश्वास करो कि तुम्हारे लौटनेतक हम कहीं भी न जायँगे, इतनेपर भी तुम्हें संतोष न हो तो तुम हमें इस पेड़से बाँध दो।' यह बात इनके मनमें बैठ गयी। देवर्षिको एक पेड़से बाँधकर ये घर चले गये और वहाँ जाकर अपने माता-पिता, स्त्री तथा कुटुम्बियोंसे पूछा—'तुम हमारे पापके हिस्सेदार हो या नहीं?' सभीने एक स्वरसे कहा—'हमें खिलाना-पिलाना तुम्हारा कर्तव्य है। हम क्या जानें कि तुम किस प्रकार धन लाते हो, हम तुम्हारे पापोंके हिस्सेदार नहीं।'

जिनके लिये वे निर्दयतासे प्राणियोंका वध करते रहे, उनका ऐसा उत्तर सुनकर वाल्मीकिजीके ज्ञाननेत्र खुल गये। जल्दीसे जंगलमें आकर मुनिका बन्धन खोला और रोते-रोते उनके चरणोंमें लिपट गये। महर्षिके चरणोंमें पड़कर वे खूब जी खोलकर रोये। उस रुदनमें गहरा पश्चात्ताप था। नारदजीने उन्हें धैर्य बँधाया और कहा—'अबतक जो हुआ सो हुआ, अब यदि तुम हृदयसे पश्चात्ताप करते हो तो मेरे पास राम-नामरूप एक ऐसा मन्त्र है, जिसके निरन्तर जपसे तुम सभी पापोंसे छूट जाओगे। इस नामके जपमें ऐसी शक्ति है कि वह किसी प्रकार भी जपा जाय पापोंको नाश कर देता है।' अत्यन्त दीनताके साथ वाल्मीकिजीने कहा—'भगवन्! पापोंके कारण यह नाम तो मेरे ओठोंसे निकलता नहीं, अतः मुझे कोई ऐसा नाम बताइये, जिसे मैं सरलतासे ले सकूँ।' तब नारदजीने बहुत समझ-सोचकर रामनामको उलटा करके 'मरा-मरा' का उपदेश दिया। निरन्तर 'मरा-मरा' कहनेसे अपने-आप 'राम-राम' हो जाता है।

देवर्षिका उपदेश पाकर वे निरन्तर एकाग्रचित्तसे 'मरा-मरा' जपने लगे। हजारों वर्षोंतक एक ही जगह बैठकर वे नामकी रटनमें निमग्न हो गये। उनके सम्पूर्ण शरीरपर दीमकका पहाड़-सा जम गया। दीमकोंके घरको वल्मीक कहते हैं, उसमें रहनेके कारण ही इनका नाम वाल्मीकि पड़ा। पहले इनका नाम रत्नाकर था। ये ही संसारमें लौकिक छन्दोंके आदिकवि हुए, इन्होंने ही श्रीवाल्मीकीय रामायण आदिकाव्यकी रचना की। वनवासके समय भगवान् स्वयं इनके आश्रमपर गये थे। सीताजीने भी अपने अन्तिम वनवासके दिन इन्हीं महर्षिके आश्रममें बिताये थे। वहींपर लव और कुशका जन्म हुआ। सर्वप्रथम लव और कुशको ही श्रीरामायणका गान सिखाया गया। इस प्रकार निरन्तर रामनामके जपके प्रभावसे वाल्मीकिजी व्याधकी वृत्तिसे हटकर ब्रह्मर्षि हो गये। इसीलिये नाममहिमामें गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

जान आदिकबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥
उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥

श्वपच भक्त वाल्मीकिजी

श्वपच वाल्मीकि नामक एक भगवान्के बड़े भारी भक्त थे, वे अपनी भक्तिको गुप्त ही रखते थे। एक बारकी बात है, धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने बड़ा भारी यज्ञ किया। उसमें इतने ऋषि-महर्षि पधारे कि सम्पूर्ण यज्ञस्थल भर गया। भगवान्ने शंख स्थापित किया और कहा कि यज्ञके सांगोपांग पूर्ण हो जानेपर यह शंख बिना बजाये ही बजेगा। यदि नहीं बजे तो समझिये कि यज्ञमें अभी कुछ त्रुटि है, यज्ञ पूरा नहीं हुआ। वही बात हुई। पूर्णाहुति, तर्पण, ब्राह्मणभोजन, दान-दक्षिणादि सभी कर्म विधिसमेत सम्पन्न हो गये, परंतु वह शंख नहीं बजा। तब सबको बड़ी चिन्ता हुई कि इतने श्रमके बाद भी यज्ञ पूर्ण नहीं हुआ। सभी लोगोंने भगवान् श्रीकृष्णके पास आकर कहा कि प्रभो! आप कृपा करके बताइये कि यज्ञमें कौन-सी कमी रह गयी है।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—शंख न बजनेका रहस्य सुनिये। यद्यपि ऋषियोंके समूहसे चारों दिशाएँ, सम्पूर्ण भूमि भर गयी है और सभीने भोजन किया है, परंतु किसी रसिक वैष्णव सन्तने भोजन नहीं किया है, यदि आपलोग यह कहें कि इन ऋषियोंमें क्या कोई भक्त नहीं है तो मैं 'नहीं' कैसे कहूँ, अवश्य इन ऋषियोंमें बहुत उत्तम-उत्तम भक्त हैं, फिर भी मेरे हृदयकी एक गुप्त बात यह है कि मैं सर्वश्रेष्ठ रसिक वैष्णव भक्त उसे मानता हूँ, जिसे अपनी जाति, विद्या, ज्ञान आदिका अहंकार बिलकुल न हो और जो अपनेको दासोंका दास मानता हो, यदि यज्ञ पूर्ण करनेकी इच्छा है तो ऐसे भक्तको लाकर जिमाइये।

भगवान्की यह बात सुनकर युधिष्ठिरने कहा—प्रभो! सत्य है, पर ऐसा भगवद्भक्त हमारे नगरके आस-पास कहीं भी दिखायी नहीं देता है। जिसमें अहंकारकी गन्ध न हो—ऐसा भक्त तो किसी दूसरे लोकमें भले ही मिले। भगवान्ने कहा—नहीं, तुम्हारे नगरमें ही रहता है। दिन-रात, प्रातः-सायं तुम्हारे यहाँ आता-जाता भी है, पर उसे कोई जानता नहीं है और वह स्वयं अपनेको प्रकट भी नहीं करता है। यह सुनकर सभी आश्चर्यसे चौंक उठे और बोले—प्रभो! कृपया शीघ्र ही बताइये, उनका क्या नाम है और कहाँ स्थान है? जहाँ जाकर हम उनका दर्शन करके अपनेको सौभाग्यशाली बनायें।

भगवान्ने कहा—श्वपच भक्त वाल्मीकिके घरको चले जाओ, वे सर्वविकाररहित सच्चे साधु हैं।

अर्जुन और भीमसेन भक्त वाल्मीकिजीको निमन्त्रण देनेके लिये उनके घर जानेको तैयार हुए। तब भगवान्ने उन्हें सतर्क करते हुए हृदयकी बात खोलकर कही—जाते तो हो पर सावधान रहना, भक्तोंकी भक्तिका भाव अत्यन्त दुर्लभ और गम्भीर है, उनको देखकर मनमें किसी प्रकारका विकार न लाना, अन्यथा तुम्हारी भक्तिमें दोष आ जायगा। दोनोंने वाल्मीकिके घर पहुँचकर उसके चारों ओर घूमकर उसकी प्रदक्षिणा की। आनन्दसे झूमते हुए पृथ्वीपर पड़कर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। भीतर जाकर देखा तो उनका उपासनागृह बड़ा सुन्दर था। वाल्मीकिजीने जब दोनों राज-राजाओंको आया देखा तो उन्होंने सब काम छोड़ दिये। लज्जा एवं संकोचवश काँपने लगे, उनका मन विह्वल हो गया। अर्जुन और भीमसेनने सविनय निवेदन किया—भक्तवर! कल आप हमारे घरपर पधारिये और वहाँ अपनी जूठन गिराकर हमारे पापग्रहोंको दूर कीजिये। हम सबको परम भाग्यशाली बनाइये।

दोनोंको निमन्त्रण देते तथा अपनी बड़ाई करते हुए सुनकर वाल्मीकिजी कहने लगे—अजी! हम तो सदासे आपकी जूठन उठाते हैं और आपके द्वारपर झाड़ू लगाते हैं। मेरा निमन्त्रण कैसा? पहले आपलोग भोजन कीजियेगा, फिर पीछेसे हमें अपनी जूठन दीजियेगा। अर्जुन-भीमसेनने कहा—आप यह क्या कह रहे हैं? पहले आप भोजन कीजियेगा, फिर पीछेसे हमें कराइयेगा। बिना आपको खिलाये हमलोग नहीं खायेंगे। दूसरी बात भूलकर भी मनमें न सोचिये। वाल्मीकिजीने कहा—बहुत अच्छी बात, यदि आपके मनमें ऐसा है तो ऐसा ही होगा।

अर्जुन और भीमसेनने लौटकर राजा युधिष्ठिरसे वाल्मीकिकी सब बात कही, सुनकर युधिष्ठिरको श्वपच भक्तके प्रति बड़ा प्रेम हुआ। भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदीको अच्छी प्रकारसे सिखाया कि तुम सभी प्रकारके षट्रस व्यंजनोंको अच्छी प्रकारसे बनाओ। तुम्हारे हाथोंकी सफलता आज इसीमें है कि भक्तके लिये सुन्दर रसोई तैयार करो। रसोई तैयार हो चुकनेपर राजा युधिष्ठिर जाकर वाल्मीकिको लिवा लाये। उन्होंने कहा कि हमें बाहर ही बैठाकर भोजन करा दो। श्रीकृष्णभगवान्ने कहा—हे युधिष्ठिर! ये तो तुम्हारे भाई हैं, इन्हें सादर गोदमें उठाकर स्वयं ले आओ। इस प्रकार उन्हें पाकशालामें लाकर बैठाया गया और उनके सामने सभी प्रकारके व्यंजन परोसे गये। रसमय प्रसादका कौर लेते ही शंख बज उठा, परंतु थोड़ी देर बजकर फिर बन्द हो गया, तब भगवान्ने शंखको एक छड़ी लगायी।

भगवान्‌ने शंखसे पूछा—तुम कण-कणके भोजन करनेपर ठीकसे क्यों नहीं बज रहे हो? घबड़ाकर शंख बोला—आप द्रौपदीके पास जाकर उनसे पूछिये, आप मनसे यह मान लीजिये कि मेरा कुछ भी दोष नहीं है। जब द्रौपदीसे पूछा गया तो उन्होंने कहा कि शंखका कथन सत्य है। भक्तजी खट्टे-मीठे आदि सभी रसोंके सभी व्यंजनोंको एकमें मिलाकर खा रहे हैं, इससे मेरी रसोई करनेकी चतुरता धूलमें मिल गयी। अपनी पाकविद्याका निरादर देखकर मेरे मनमें यह भाव आया कि आखिर हैं तो ये श्वपच जातिके ही, ये भला व्यंजनोंका स्वाद लेना क्या जानें? तब भगवान्‌ने सब पदार्थोंको एकमें मिलाकर खानेका कारण पूछा। वाल्मीकिने कहा कि इनका भोग तो आप पहले ही लगा चुके हैं, अतः पदार्थबुद्धिसे अलग-अलग स्वाद कैसे लूँ? पदार्थ तो एकके बाद दूसरे रुचिकर और अरुचिकर लगेंगे। फिर इसमें प्रसादबुद्धि कहाँ रहेगी? मैं तो प्रसादका सेवन कर रहा हूँ, व्यंजनोंको नहीं खा रहा हूँ। यह सुनकर भक्त वाल्मीकिमें द्रौपदीका अपार सद्भाव हुआ। शंख जोरोंसे बजने लगा। लोग भक्तकी जय-जयकार करने लगे। इस प्रकार यज्ञ पूर्ण हुआ और भक्त वाल्मीकिजीकी महिमाका सबको पता चल गया।

श्रीप्रियादासजीने श्वपच भक्त वाल्मीकिके इस चरितका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

हुतो वालमीकि एक सुपच सनाम ताको श्याम लै प्रकट कियो भारत में गाइयै।
पांडवन मध्य मुख्य धर्म पुत्र राजा आप कीनो यज्ञ भारी ऋषि आए भूमि छाइयै॥
ताको अनुभाव शुभ शङ्ख सो प्रभाव कहै जो पै नहीं बाजै तो अपूरनता आइयै।
सोई बात भई वह बाज्यो नाहिं शोच पर्‌यौ पूछें प्रभुपास याकी न्यूनता बताइयै॥ ७५॥
बोले कृष्णदेव याको सुनो सब भेव ऐ पै नीके मानि लेव बात दुरी समुझाइये।
भागवत संत रसवन्त कोऊ जेंयो नाहिं ऋषिन समूह भूमि चहूँ दिशि छाइये॥
जौपै कहौ 'भक्तनाहीं' नाहीं कैसे कहौं गहौं गांस एक और कुलजाति सो बहाइये।
दासनि को दास अभिमान की न बास कहूँ पूरणकी आस तोपै ऐसो लै जिमाइये॥ ७६॥
ऐसो हरिदास पुर आस पास दीसै नाहिं बास बिन कोऊ लोक लोकन में पाइये।
तेरेई नगर मांझ निशि दिन भोर सांझ आवै जाय ऐपै काहू बात न जनाइये॥
सुनि सब चौंकि परे भाव अचरज भरे हरे मन नैन अजू वेगि ही बताइये।
कहा नाँव? कहाँ ठाँव? जहाँ हम जाय देखैं लेखैं करि भाग धायपाय लपटाइये॥ ७७॥
जिते मेरे दास कभूं चाहैं न प्रकाश भयो करौं जो प्रकाश मानैं महादुखदाइये।
मोको पर्‌यो सोच यज्ञपूरन की लोच हिये लिये वाको नाम कहूँ ग्राम तजि जाइये॥
ऐसौ तुम कहौ जामें रहो न्यारे प्यारे सदा हमही लिवाइ ल्याइ नीके कै जिमाइये।
जावो वालमीक घर बड़ो अवलीक साधु कियो अपराध हम दियो जो बताइये॥ ७८॥
अर्जुन औ भीमसेन चलेई निमन्त्रण को अन्तर उघारि कही भक्तिभाव दूर है।
पहुँचे भवन जाइ चहुँ दिशि फिरि आई परे भूमि झूमि घर देख्यो छबिपूर है॥
आये नृप राजनिको देखि तजे काजनिको लाजनि सो काँपि काँपि भयो मनचूर है।
पायनि को धारिये जू जूठन को डारिये जू पाप ग्रह टारिये जू कीजै भागभूर है॥ ७९॥
जूठनि लै डारौं सदा द्वार को बुहारों नहीं और को निहारौं अजू यही साँचो पन है।
कहो कहा? जेंवो कछु पाछे लै जिंवावो हमें जानी गई रीति भक्तिभाव तुम तन है॥

तब तौ लजानौ हिये कृष्ण पै रिसानो नृप चाहौ सोई ठानौ मेरे संग कोऊ जन है।
भोर ही पधारौ अब यही उर धारौ और भूलि न विचारौ कहीभली जो पै मन है॥ ८०॥
कही सब रीति सुनि धर्म पुत्र प्रीति भई करी लै रसोई कृष्ण द्रौपदी सिखाई है।
जेतिक प्रकार सब व्यञ्जन सुधारि करो आजु तेरे हाथनि की होति सफलाई है॥
ल्याये जा लिवाय कहैं बाहिर जिमाय देवो कही प्रभु आपु ल्यावो अङ्कभरि भाई है।
आनिकै बैठायो पाकशाल में रसाल ग्रास लेत बाज्यो शङ्ख हरि दण्डकी लगाई है॥ ८१॥
सीत सीत प्रति क्यों न बाज्यो कछु लाज्यो कहा भक्ति को प्रभाव तै न जानत यों जानिये।
बोल्यो अकुलाय जाय पूछिये जू द्रौपदी को मेरो दोष नाहिं यह आपु मन आनिये॥
मानि सांच बात जाति बुद्धि आई देखि याहि सबही मिलाई मेरी चातुरी विहानिये।
पूँछेते कही है बालमीक मैं मिलायों यातें आदि प्रभु पायो पाऊँ स्वाद उनमानिये॥ ८२॥

श्रीमिथिलेशजी

मिथिलापुरीके सभी राजा मैथिल, विदेह और जनककी संज्ञासे अभिहित किये जाते हैं। यहाँके सभी राजा धर्मप्राण, योगी और भगवद्भक्त थे। इन सबका चरित परम पावन है। इनमें कतिपय राजाओं यथा सीरध्वज जनक, निमि और बहुलाश्वका चरित भक्तमालमें दिया गया है। यथा—राजा सीरध्वज जनकका चरित्र छप्पय ७ में, निमिका चरित्र छप्पय १२ में और बहुलाश्वका छप्पय १०।

श्रीरुक्मांगदजी

परमभागवत महाराज रुक्मांगद अयोध्याके महाराज ऋतध्वजके पुत्र थे। ये इक्ष्वाकुवंशमें बड़े ही प्रतापी और धर्मात्मा राजा हुए हैं। इनकी सन्ध्यावली नामकी पत्नी थी, उसके गर्भसे राजकुमार धर्मांगदका जन्म हुआ। कुमार धर्मांगद पिताके समान ही धर्मात्मा और पितृभक्त थे। महाराज रुक्मांगदको एकादशीव्रतका इष्ट था। उन्होंने अपने समस्त राज्यमें घोषणा करा दी थी कि जो एकादशीव्रत न करेगा, उसे राज्यकी ओरसे दण्ड दिया जायगा। अतः उनके राज्यमें छोटे-छोटे बच्चों, अति वृद्धों और गर्भिणी स्त्रियोंको छोड़कर सभी एकादशीव्रत करते थे। एकादशीव्रतके प्रतापके उनके राज्यमें कोई भी यमपुरीको नहीं जाता था। यमराजको बड़ी चिन्ता हुई, वे प्रजापति भगवान् ब्रह्माके पास गये और यमपुरीके उजाड़ होनेका संवाद सुनाया। ब्रह्माजीने कुछ सोचकर उत्तर दिया कि अच्छा हम इसका प्रबन्ध करेंगे।

ब्रह्माजीने अपनी इच्छासे एक मोहिनी नामकी मायाकी स्त्री बनायी। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं महाराजसे एकादशीका व्रत छुड़वा दूँगी। ऐसी प्रतिज्ञा करके वह हिमालयके रमणीक प्रदेशमें चली गयी। इधर महाराज राज्य करते-करते थक गये थे, वे अपने पुत्र धर्मांगदको राज्य देकर और अपनी रानीको साथ लेकर हिमालयकी ओर तप करने चले गये। जाते हुए वे अपने पुत्रको आदेश दे गये कि एकादशीके व्रतका नियम इसी प्रकार चलता रहे। पितृभक्त राजकुमारने पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की और उसी प्रकार एकादशीका व्रत स्वयं करने लगा तथा समस्त प्रजाके लोगोंसे कराने लगा। महाराज रुक्मांगद जंगलमें भी सदा एकादशीका व्रत करते थे। महाराज जहाँ तपस्या करते थे, वहाँ मोहिनी गयी और उसने अपने हाव-भाव, कटाक्षोंद्वारा महाराजको अपने वशमें कर लिया तथा अपनेको ब्रह्माजीकी पुत्री बताकर अपनी कुलीनताका भी परिचय दिया। महाराजने उससे विवाह करनेका प्रस्ताव किया। उसने कहा आप अपने नगरमें चलकर मुझसे विवाह कर लें; किंतु शर्त यह है कि मैं जो कुछ कहूँगी, वही आपको मानना पड़ेगा। महाराजने मोहवश यह शर्त स्वीकार कर ली। वे मोहिनीको साथ लेकर अपनी राजधानीमें लौट आये। उनके धर्मात्मा पुत्रने विधिवत् उनका स्वागत किया।

महाराजको मोहिनीने वशमें कर लिया था। अतः उन्होंने उसकी सब बातें मानकर उससे विवाह कर लिया। सन्ध्यावली बड़ी ही धर्मपरायणा पतिव्रता थीं। वे बड़ी श्रद्धासे महाराजकी तथा मोहिनीकी सेवा करने लगीं। उनके मनमें तनिक भी सौतियाडाह नहीं था। महाराज उनके इष्टदेव थे। महाराज जिन्हें मानते हैं, वह उनकी भी मान्य हैं। महाराजकी जिसमें प्रसन्नता है, उसे करनेमें वे अपना सौभाग्य समझती थीं।

इतना सब होनेपर भी महाराज एकादशीव्रतको सदा नियमपूर्वक करते थे। एकादशीका व्रत उन्होंने नहीं छोड़ा।

एक दिन एकादशी आयी, महाराज व्रत रहे और विधिवत् रात्रिजागरण करनेको भी उद्यत हुए। मोहिनीने कहा—'महाराज! मेरी एक बात आपको माननी होगी।'

महाराजने कहा—'मैं तुम्हारी सभी बातोंको मानता रहा हूँ और मानूँगा, बताओ कौन-सी बात है?'

मोहिनीने कहा—'मेरी प्रार्थना यही है कि आप एकादशीका व्रत न करें, इसीमें मेरी प्रसन्नता है।'

महाराज यह सुनते ही अवाक् रह गये, उन्होंने बड़े कष्टसे कहा—'मोहिनी! मैं तुम्हारी सभी बातें मान सकता हूँ, सब कुछ कर सकता हूँ; किंतु एकादशीव्रत छोड़नेके लिये मुझसे मत कह। एकादशीव्रतको छोड़ना मेरे लिये नितान्त असम्भव है।'

मोहिनीने कहा—'महाराज! आप एकादशीव्रत रहेंगे तो मैं अभी मर जाऊँगी। मेरी यही इच्छा है, इसे आपको पूरा करना ही होगा। आप मुझसे विवाहके समय प्रतिज्ञा कर चुके हैं।'

महाराजने कहा—'तुम इसके बदले और जो कुछ भी चाहो, माँग लो। बस, एकादशीव्रत छोड़नेको मत कहो।'

तब मोहिनीने कहा—'अच्छा अपने इकलौते पुत्रका सिर दीजिये।' महाराज बड़े दुखी हुए। धर्मांगदको जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने अपने पिताको बहुत समझाया कि 'इससे बढ़कर सौभाग्य मेरे लिये क्या होगा? आप धर्मसंकटसे बच जायँगे, माताकी इच्छापूर्ति होगी। यह शरीर तो कभी-न-कभी जाना ही है, यदि इसके द्वारा कोई महान् कार्य हो जाय तो इससे बढ़कर इसका सदुपयोग और हो ही क्या सकता है?' सन्ध्यावली रानीने भी पुत्रकी बातोंका अनुमोदन किया।

पुत्रके कहनेपर महाराज ज्यों ही अपने इकलौते पुत्रका सिर काटनेवाले थे, त्यों ही भगवान् विमान लेकर आये और महाराजको सपरिवार अपने लोकको ले गये।

जिन्होंने सत्यकी रक्षाके लिये प्राणसे भी प्यारे अपने इकलौते पुत्रका सिर देनातक मंजूर कर लिया किंतु एकादशीका व्रत नहीं छोड़ा, उनसे बढ़कर परमभागवत और कौन हो सकता है?

राजा रुक्मांगदको एकादशीव्रत क्यों इतना प्रिय था? इस विषयमें भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज निम्न दो कवित्तोंमें इस प्रसंगका वर्णन करते हुए कहते हैं—

रुक्मांगद बाग शुभ गन्ध फूल पागि रह्यो करि अनुराग देवबधू लेन आवहीं।
रहि गई एक कांटा चुभ्यो पग बैंगन को सुनि नृप माली पास आये सुख पावहीं॥
कहौ 'को उपाइ स्वर्ग लोक को पठाइ दीजै' करै एकादशी जल धरै कर जावहीं।
व्रतको तो नाम यही ग्राम कोउ जानै नाहिं कीनो हो अजान काल्हि लावो गुनगावहीं॥ ८३॥
फेरी नृप डौंड़ी सुनि बनिक की लौंड़ी भूखी रही ही कनौड़ी निशि जागी उन मारिये।
राजा ढिग आनि करि दियो व्रत दान गई तिया यों उड़ानि निज लोक को पधारिये॥

महिमा अपार देखि भूपने विचारी याको कोऊ अन्न खाय ताको बाँधि मारि डारिये।
याही के प्रभाव भाव भक्ति विसतार भयो नयो चोज सुनो सब पुरी लै उधारिये॥ ८४॥

भक्त राजा रुक्मांगदका बाग अनेक प्रकारके सुन्दर फूलोंकी उत्तम सुगन्धसे भरा हुआ था, इससे प्रभावित होकर स्वर्गकी अप्सराएँ भी यहाँ आती थीं। दैवयोगसे एक दिन एक अप्सराके पैरमें बैंगनका काँटा चुभ गया, इससे उसका पुण्य क्षीण हो गया। वह उड़कर स्वर्गको न जा सकी, बागमें ही रह गयी। प्रातःकाल बागके मालियोंसे यह समाचार सुनकर रुक्मांगदजी बागमें आये। अप्सराको चिन्तित देखकर राजाने पूछा—तुम्हें सुखी करनेका क्या उपाय किया जाय? तब उसने कहा कि कल जिसने एकादशीका व्रत किया हो, वह हाथमें जल लेकर अपने व्रतके फलका संकल्प करके मुझे दे दे। तब मैं अपने लोकको जा सकती हूँ। राजाने कहा—व्रत करना तो दूर रहा, मेरे नगरमें तो कोई इसका नाम भी नहीं जानता है। तब अप्सराने कहा कि बिना जाने ही कोई भूखा रह गया हो, उसे ही लाकर संकल्प करा दो, उसीके फलसे चली जाऊँगी और कृतज्ञ होकर सदा आपका गुन गाऊँगी।

राजाने अपने नगरमें ढिंढोरा पिटवाया कि कल जिसने अन्न-जल ग्रहण न किया हो, वह दरबारमें आये, उसे इनाम मिलेगा। इसे सुनकर एक बनियेकी दासी आयी, जिस बिचारीको बिना अपराधके ही बनियेने मारा था। इससे वह ग्लानिवश दिन-रात भूखी-प्यासी और जागती ही रह गयी थी। राजाने उसीसे व्रतका संकल्प करा दिया। अप्सरा उड़कर अपने लोकको चली गयी। एकादशीव्रतकी ऐसी अपार महिमाको देखकर राजाने विचार करके यह घोषणा की कि मेरे राज्यमें सभीको व्रत करना अनिवार्य है। यदि कोई अन्न खायेगा तो उसे बाँधकर मार डाला जायगा। इसके प्रभावसे राजा रुक्मांगदके राज्यमें भाव-भक्तिका बहुत विस्तार हुआ।

श्रीरुक्मांगदजीकी पुत्री

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने श्रीरुक्मांगदजीकी पुत्रीकी एकादशी-निष्ठाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

एकादशी ब्रत की सचाई लै दिखाई राजा सुता कि निकाई सुनौ नीके चित लाइकै।
पिता घर आयो पति भूख ने सतायो अति माँगे तिया पास नहिं दियो यह भाइकै॥
आजु हरिवासर सो तासर न पूजै कोऊ डर कहा मीच को यों मानी सुख पाइकै।
तजे उन प्रान पाये बेगि भगवान् वधू हिये सरसान भई कह्यों पन गाइकै॥ ८५॥

कवित्तमें बताया गया है कि राजा रुक्मांगदजीकी पुत्रीको भी अपने पिताकी भाँति एकादशी व्रतमें अगाध निष्ठा थी। एक बार जब वह अपने पिताके ही घर थी, तब एक दिन उसका पति आया। व्रतका दिन था, इसलिये किसीने भोजन-पानादिकी बात भी नहीं पूछी। उसे भूखने बहुत सताया, व्याकुल होकर उसने अपनी स्त्रीसे भोजन माँगा। एकादशीव्रत होनेके कारण उसने भी कुछ खानेको नहीं दिया। तब उसके पतिने कहा—मुझसे भूख-प्यास सही नहीं जा रही है, मैं थोड़ी देरमें मर जाऊँगा। राजपुत्रीने कहा—आज तो एकादशी है, इसके समान प्राण त्यागनेका उत्तम दिन कोई नहीं है। इसलिये मृत्युका क्या भय? यदि प्राण छूट भी जाय तो दुर्लभ वैकुण्ठकी प्राप्ति होगी। उधर भोजन न मिलनेसे उसके पतिने प्राण त्याग दिये और शीघ्र ही वैकुण्ठधामको पहुँचकर वे भगवान्‌को प्राप्त हो गये। यह देखकर उसकी स्त्रीका हृदय भक्तिसे भर गया। उसने भी शरीर त्यागकर पतिका अनुगमन किया॥ ८५॥

राजा हरिश्चन्द्र आदि परोपकारी भक्त

सुनो हरिश्चन्द कथा व्यथा बिन द्रव्य दियो तथा नहीं राखी बेचि सुततिया तन है।
सुरथ सुधन्वा जू सों दोष के करत मरे शङ्ख औ लिखित विप्र भयौ मैलो मन है॥
इन्द्र औ अगिनि गये शिवि पै परीक्षा लैन काटि दियो मांस रीझि साँचो जान्यो पन है।
भरत दधीच आदि भागवत बीच गाए सबनि सुहाये जिन दियो तन धन है॥ ८६॥

श्रीप्रियादासजी कहते हैं—अब सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्रकी कथा सुनिये—उन्होंने मनमें बिना किसी कष्टका अनुभव किये प्रसन्नतापूर्वक विश्वामित्रमुनिको अपना राज्यवैभव दान कर दिया। कुछ भी शेष नहीं रखा। पहले संकल्पको पूरा किया, सत्यका पालन करनेमें अपने समान किसीको नहीं रखा। राज्य छोड़कर काशीपुरीको चले गये। वहाँ उन्होंने अपने शरीरके साथ ही स्त्री-पुत्रको बेच दिया। सत्यकी रक्षा करके भगवान्‌को प्रसन्न किया। [सूर्यवंशमें त्रिशंकु नामके एक प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट् हो गये हैं, जिन्हें भगवान् विश्वामित्रने अपने योगबलसे सशरीर स्वर्ग भेजनेका प्रयत्न किया था। महाराज हरिश्चन्द्र उन्हीं त्रिशंकुके पुत्र थे। ये बड़े ही धर्मात्मा, सत्यपरायण तथा प्रसिद्ध दानी थे। इनके सत्यकी परीक्षाकी गाथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है। इनकी पत्नी शैब्या थीं तथा पुत्रका नाम रोहित था।] **सुरथ** और **सुधन्वा** दोनों बड़े भारी भक्त थे। शंख और लिखित दोनों ब्राह्मणोंके मन मलिन थे, उन्होंने दोनों भक्तोंको मिथ्या दोष लगाया और वे अपने पापसे मर गये। शरणागतरक्षक राजा **शिबि**के पास परीक्षा लेनेके लिये इन्द्र और अग्निदेव बाज और कबूतर बनकर गये। शरणागत कबूतरकी रक्षा करते हुए प्रसन्न होकर उन्होंने बाजको अपने शरीरका मांस काटकर दे दिया, तब दोनोंको विश्वास हुआ कि राजा अपने प्रणका पालक और सच्चा धर्मात्मा है। छप्पयमें आये शेष **भरत** और **दधीचि** आदि भक्तोंकी कथाएँ श्रीमद्भागवतमें कही गयी हैं। जिन्होंने परोपकारमें अपना तन-मन और धन अर्पण किया, वे भक्त संसारमें सभीको प्रिय हुए॥ ८६॥

श्रीहरिश्चन्द्रजी

सूर्यवंशमें त्रिशंकु नामके एक प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट् हो गये हैं, जिन्हें मुनि विश्वामित्रने अपने योगबलसे सशरीर स्वर्ग भेजनेका प्रयत्न किया था। महाराज हरिश्चन्द्र उन्हीं त्रिशंकुके पुत्र थे। ये बड़े ही धर्मात्मा, सत्यपरायण तथा प्रसिद्ध दानी थे। इनके राज्यमें प्रजा बड़ी सुखी थी और दुर्भिक्ष, महामारी आदि उपद्रव कभी नहीं होते थे। महाराज हरिश्चन्द्रके यशसे त्रिभुवन भर गया। देवर्षि नारदके मुखसे इनकी प्रशंसा सुनकर देवराज इन्द्र ईर्ष्यासे जल उठे और उनकी परीक्षाके लिये मुनि विश्वामित्रसे प्रार्थना की। इन्द्रकी प्रार्थनापर प्रसन्न होकर मुनि परीक्षा लेनेको तैयार हो गये।

महामुनि विश्वामित्र अयोध्या पहुँचे। राजा हरिश्चन्द्रसे बातों-ही-बातोंमें उन्होंने समस्त राज्य दानरूपमें ले लिया। महाराज हरिश्चन्द्र ही भूमण्डलके एकछत्र राजा थे। वह सारा राज्य तो मुनिकी भेंट हो चुका—अब वे रहें तो कहाँ रहें? उन दिनों काशी ही एक ऐसा स्थान था, जिसपर किसी मनुष्यका अधिकार नहीं समझा जाता था। वे रानी शैब्या और पुत्र रोहिताश्वके साथ काशीकी तरफ चल पड़े। जाते समय मुनिने राजासे कहा कि बिना दक्षिणाके यज्ञ, दान और जप-तप आदि सब निष्फल होते हैं; अतः आप इस बड़े भारी दानकी सांगताके लिये एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणास्वरूप दीजिये। महाराजके पास अब रह ही क्या गया था? उन्होंने इसके लिये एक मासकी अवधि माँगी। विश्वामित्रने प्रसन्नतापूर्वक एक मासका समय दे दिया।

महाराज हरिश्चन्द्र काशी पहुँचे और शैब्या तथा रोहिताश्वको एक ब्राह्मणके हाथ बेंचकर स्वयं एक

चाण्डालके यहाँ बिक गये; क्योंकि इसके सिवा अन्य कोई उपाय भी न था। इस प्रकार मुनिके ऋणसे मुक्त होकर राजा हरिश्चन्द्र अपने स्वामीके यहाँ रहकर काम करने लगे। इनका स्वामी मरघटका मालिक था। उसने इन्हें श्मशानमें रहकर मुर्दोंके कफन लेनेका काम सौंपा। इस प्रकार राजा बड़ी सावधानीसे स्वामीका काम करते हुए श्मशानमें ही रहने लगे।

इधर रानी शैब्या ब्राह्मणके घर रहकर उसके बर्तन साफ करती, घरमें झाड़ू-बुहारी देती और कुमार पुष्प-वाटिकासे ब्राह्मणके देवपूजनके लिये पुष्प लाता। राजसुख भोगे हुए और कभी कठिन काम करनेका अभ्यास न होनेके कारण रानी शैब्या और कुमार रोहिताश्वका शरीर अत्यन्त परिश्रमके कारण इतना सूख गया कि उन्हें पहचानना कठिन हो गया। इसी बीचमें एक दिन जबकि कुमार पुष्पचयन कर रहा था, एक पुष्पलताके भीतरसे एक काले विषधर सर्पने उसे डस लिया। कुमारका मृत शरीर जमीनपर गिर पड़ा। जब शैब्याको यह खबर मिली तो वह स्वामीके कार्यसे निपटकर विलाप करती हुई पुत्रके शवके पास गयी और उसे लेकर दाहके लिये श्मशान पहुँची। महारानी पुत्रके शवको जलाना ही चाहती थी कि हरिश्चन्द्रने आकर उससे कफन माँगा। पहले तो दम्पतीने एक-दूसरेको पहचाना ही नहीं, परंतु दुःखके कारण शैब्याके रोने-चीखनेसे राजाने रानी और पुत्रको पहचान लिया। यहाँपर हरिश्चन्द्रकी तीसरी बार कठिन परीक्षा हुई। शैब्याके पास रोहिताश्वके कफनके लिये कोई कपड़ा नहीं था। परंतु राजाने रानीके गिड़गिड़ानेकी कोई परवा नहीं की। वे पिताके भावसे पुत्रशोकसे कितने ही दुखी क्यों न हों, पर यहाँ तो ये पिता नहीं थे। वे तो मरघटके स्वामीके नौकर थे और उनकी आज्ञा बिना किसी भी लाशको कफन लिये बिना जलाने देना पाप था। राजा अपने धर्मसे जरा भी विचलित नहीं हुए। जब रानीने स्वामीको किसी तरह मानते नहीं देखा तो वह अपने साड़ीके दो टुकड़े करके उसे कफनके रूपमें देनेकी तैयार हो गयी। रानी ज्यों ही साड़ीके दो टुकड़े करनेको तैयार हुई कि वहाँ भगवान् नारायण एवं मुनि विश्वामित्रसहित ब्रह्मादि देवगण आ उपस्थित हुए और कहने लगे कि हम तुम्हारी धर्मपालनकी दृढ़तासे अत्यन्त प्रसन्न हैं, तुम तीनों सदेह स्वर्गमें जाकर अनन्तकालतक स्वर्गके दिव्य भोगोंको भोगो।

इधर इन्द्रने रोहिताश्वके मृत शरीरपर अमृतकी वर्षा करके उसे जीवित कर दिया। कुमार सोकर उठे हुएकी भाँति उठ खड़े हुए। हरिश्चन्द्रने समस्त देवगणसे कहा कि जबतक मैं अपने स्वामीसे आज्ञा न ले लूँ, तबतक यहाँसे कैसे हट सकता हूँ? इसपर धर्मराजने कहा—'राजन्! तुम्हारी परीक्षाके लिये मैंने ही चाण्डालका रूप धारण किया था। तुम अपनी परीक्षामें पूर्णतः उत्तीर्ण हो गये। अब तुम सहर्ष स्वर्ग जा सकते हो।' इसपर महाराज हरिश्चन्द्रने कहा—'महाराज! मेरे विरहमें मेरी प्रजा अयोध्यामें व्याकुल हो रही होगी। उनको छोड़कर मैं अकेला कैसे स्वर्ग जा सकता हूँ? यदि आप मेरी प्रजाको भी मेरे साथ स्वर्ग भेजनेको तैयार हों तो मुझे कोई आपत्ति नहीं, अन्यथा उनके बिना मैं स्वर्गमें रहनेकी अपेक्षा उनके साथ नरकमें रहना भी अधिक पसन्द करूँगा।' इसपर इन्द्रने कहा—'महाराज! उन सबके कर्म तो अलग-अलग हैं, वे सब एक साथ कैसे स्वर्ग जा सकते हैं?' यह सुनकर हरिश्चन्द्रने कहा—'मुझे आप मेरे जिन कर्मोंके कारण अनन्तकालके लिये स्वर्ग भेजना चाहते हैं, उन कर्मोंका फल आप सबको समानरूपसे बाँट दें, फिर उनके साथ स्वर्गका क्षणिक सुख भी मेरे लिये सुखकर होगा। किंतु उनके बिना मैं अनन्तकालके लिये भी स्वर्गमें रहना नहीं चाहता।' इसपर देवराज प्रसन्न हो गये और उन्होंने 'तथास्तु' कह दिया। सब देवगण महाराज हरिश्चन्द्र एवं शैब्या तथा रोहिताश्वको आशीर्वाद एवं नाना प्रकारके वरदान देकर अन्तर्धान हो गये। भगवान् नारायणदेवने भी उन्हें अपनी अचल भक्ति देकर कृतार्थ कर दिया।

इधर सब-के-सब अयोध्यावासी अपने स्त्री, पुत्र एवं भृत्योंसहित सदेह स्वर्ग चले गये। बादमें मुनि विश्वामित्रने अयोध्या नगरीको फिरसे बसाया और कुमार रोहितको अयोध्याके राजसिंहासनपर बिठाकर उसे समस्त भूमण्डलका एकछत्र अधिपति बना दिया।

राजर्षि भरत

राजर्षि भरतजी भगवान् ऋषभदेवजीके पुत्र थे। इन्हींके नामसे इस देशका नाम भारतवर्ष पड़ा। इनका विस्तृत विवरण 'राजा रहूगण और जड़भरतजी' शीर्षकसे छप्पय ११ में दिया गया है।

श्रीदधीचिजी

परोपकाराय सतां विभूतयः।*

एक बारकी बात है, देवराज इन्द्र अपनी सभामें बैठे थे। उन्हें अभिमान हो आया कि हम तीनों लोकोंके स्वामी हैं। ब्राह्मण हमें यज्ञमें आहुति देते हैं, देवता हमारी उपासना करते हैं। फिर हम सामान्य ब्राह्मण बृहस्पतिजीसे इतना क्यों डरते हैं? उनके आनेपर खड़े क्यों हो जाते हैं, वे तो हमारी जीविकासे पलते हैं। ऐसा सोचकर वे सिंहासनपर डटकर बैठ गये। भगवान् बृहस्पतिके आनेपर न तो वे स्वयं उठे, न सभासदोंको उठने दिया। देवगुरु बृहस्पतिजी इन्द्रका यह औद्धत्य देखकर लौट गये और कहीं एकान्तमें जाकर छिप गये।

थोड़ी देरके पश्चात् देवराजका मद उतर गया, उन्हें अपनी गलती मालूम हुई। वे अपने कृत्यपर बड़ा पश्चात्ताप करने लगे, दौड़े-दौड़े गुरुके यहाँ आये; किंतु गुरुजी तो पहले ही चले गये थे, निराश होकर इन्द्र लौट आये। गुरुके बिना यज्ञ कौन कराये, यज्ञके बिना देवता शक्तिहीन होंगे। असुरोंको यह बात मालूम हो गयी, उन्होंने अपने गुरु शुक्राचार्यकी सम्मतिसे देवताओंपर चढ़ाई कर दी। इन्द्रको स्वर्ग छोड़कर भागना पड़ा, स्वर्गपर असुरोंका अधिकार हो गया। पराजित देवताओंको लेकर इन्द्र भगवान् ब्रह्माजीके पास गये, अपना सब हाल सुनाया। ब्रह्माजीने कहा—'त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपको अपना पुरोहित बनाकर काम चलाओ।' देवताओंने ऐसा ही किया। विश्वरूप बड़े विद्वान्, वेदज्ञ और सदाचारी थे; किंतु इनकी माता असुरकुलकी थीं, इससे ये देवताओंसे छिपाकर असुरोंको भी कभी-कभी भाग दे देते थे। इससे असुरोंके बलकी वृद्धि होने लगी।

इन्द्रको इस बातका पता चला, उन्हें दूसरा कोई उपाय ही न सूझा। एक दिन विश्वरूप एकान्तमें बैठे वेदाध्ययन कर रहे थे कि इन्द्रने पीछेसे जाकर उनका सिर काट लिया। इसपर उन्हें ब्रह्महत्या लगी। जिस-किसी प्रकार गुरु बृहस्पतिजी प्रसन्न हुए। उन्होंने यज्ञ आदि कराके ब्रह्महत्याको पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियोंमें बाँट दिया। इन्द्रका फिरसे स्वर्गपर अधिकार हो गया।

इधर त्वष्टा ऋषिने जब सुना कि इन्द्रने मेरे पुत्रको मार दिया है तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अपने तपके प्रभावसे उन्होंने उसी समय इन्द्रको मारनेकी इच्छासे एक बड़े भारी बलशाली दैत्य वृत्रासुरको उत्पन्न किया। वृत्रासुरके पराक्रमसे सम्पूर्ण त्रैलोक्य भयभीत था। उसके ऐसे पराक्रमको देखकर देवराज भी डर गये, वे दौड़े-दौड़े ब्रह्माजीके पास गये। सब हाल सुनाकर उन्होंने ब्रह्माजीसे वृत्रासुरके कोपसे बचनेका कोई उपाय पूछा। ब्रह्माजीने कहा—'देवराज! तुम किसी प्रकार वृत्रासुरसे बच नहीं सकते। वह बड़ा बली, तपस्वी और भगवद्भक्त है। उसे मारनेका एक ही उपाय है कि नैमिषारण्यमें एक महर्षि दधीचि तपस्या कर रहे हैं। उग्र तपके प्रभावसे उनकी हड्डियाँ वज्रसे भी अधिक मजबूत हो गयी हैं। यदि परोपकारकी इच्छासे वे

* सज्जनोंकी सम्पूर्ण विभूति परोपकारके लिये होती है।

अपनी हड्डियाँ दे दें और उनसे तुम अपना वज्र बनाओ तो वृत्रासुर मर सकता है।'

ब्रह्माजीकी सलाह मानकर देवराज समस्त देवताओंके साथ नैमिषारण्यमें पहुँचे। उग्र तपस्यामें लगे हुए भगवान् दधीचिकी उन्होंने भाँति-भाँतिसे स्तुति की। तब ऋषिने उनसे वरदान माँगनेके लिये कहा। इन्द्रने हाथ जोड़कर कहा—'त्रैलोक्यकी मंगलकामनाके निमित्त आप अपनी हड्डियाँ हमें दे दीजिये।'

महर्षि दधीचिने कहा—'देवराज! समस्त देहधारियोंको अपना शरीर प्यारा होता है, स्वेच्छासे इस शरीरको जीवित-अवस्थामें छोड़ना बड़ा कठिन होता है; किंतु त्रैलोक्यकी मंगलकामनाके निमित्त मैं इस कामको भी करूँगा। मेरी इच्छा तीर्थ करनेकी थी।'

इन्द्रने कहा—'ब्रह्मन्! समस्त तीर्थोंको मैं यहीं बुलाये देता हूँ।' यह कहकर देवराजने समस्त तीर्थोंको नैमिषारण्यमें बुलाया। सभीने ऋषिकी स्तुति की। ऋषिने सबमें स्नान, आचमन आदि किया और वे समाधिमें बैठ गये। जंगली गौने उनके शरीरको अपनी काँटेदार जीभसे चाटना आरम्भ किया। चाटते-चाटते चमड़ी उड़ गयी। तब इन्द्रने उनकी तप:पूत रीढ़की हड्डी निकाल ली, उससे एक महान् शक्तिशाली तेजोमय दिव्य वज्र बनाया गया और उसी वज्रकी सहायतासे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरको मारकर त्रिलोकीके संकटको दूर किया। इस प्रकार एक महान् परोपकारी ऋषिके अद्वितीय त्यागके कारण देवराज इन्द्र बच गये और तीनों लोक सुखी हुए।

संसारके इतिहासमें ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े मिलेंगे, जिनमें स्वेच्छासे केवल परोपकारके ही निमित्त—जिसमें मान, प्रतिष्ठा आदि अपना निजी स्वार्थ कुछ भी न हो—अपने शरीरको हँसते-हँसते एक याचकको सौंप दिया गया हो। इसलिये भगवान् दधीचिका यह त्याग परोपकारी सन्तोंके लिये एक परम आदर्श है।

दधीचि ऋषिकी और भी विशेषता देखिये। अश्विनीकुमारोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश देनेके कारण इन्द्रने इनका मस्तक उतार लिया था। फिर अश्विनीकुमारोंने इनके धड़पर घोड़ेका सिर चढ़ा दिया और इससे इनका नाम अश्वशिरा विख्यात हुआ था। जिस इन्द्रने इनके साथ इतना दुष्ट बर्ताव किया था, उसी इन्द्रकी महर्षिने अपनी हड्डी देकर सहायता की। सन्तोंकी उदारता ऐसी ही होती है। वज्र बननेके बाद जो हड्डियाँ बची थीं, उन्हींसे शिवजीका पिनाकधनुष बना था। दधीचि ब्रह्माजीके पुत्र अथर्वा ऋषिके पुत्र थे। साभ्रमती और चन्द्रभागाके संगमपर इनका आश्रम था।

भक्त सुधन्वा

चम्पकपुरीके राजा हंसध्वज बड़े ही धर्मात्मा, प्रजापालक, शूरवीर और भगवद्भक्त थे। उनके राज्यकी यह विशेषता थी कि राजकुल तथा प्रजाके सभी पुरुष 'एकपत्नीव्रत' का पालन करते थे। जो भगवान्‌का भक्त न होता या जो एकपत्नीव्रती न होता, वह चाहे जितना विद्वान् या शूरवीर हो, उसे राज्यमें आश्रय नहीं मिलता था। पूरी प्रजा सदाचारी, भगवान्‌की भक्त, दानपरायण थी। पाण्डवोंका अश्वमेध-यज्ञका घोड़ा जब चम्पकपुरीके पास पहुँचा, तब महाराज हंसध्वजने सोचा—'मैं वृद्ध हो गया, पर अबतक मेरे नेत्र श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे सफल नहीं हुए। अब इस घोड़ेको रोकनेके बहाने मैं युद्धभूमिमें जाकर भगवान् पुरुषोत्तमके दर्शन करूँगा। मेरा जन्म उन श्यामसुन्दर भुवनमोहनके श्रीचरणोंके दर्शनसे सफल हो जायगा।'

घोड़ेकी रक्षाके लिये गाण्डीवधारी अर्जुन प्रद्युम्नादि महारथियोंके साथ उसके पीछे चल रहे थे, यह सबको पता था; किंतु राजाको पार्थसारथि श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन करने थे। अश्व पकड़कर बाँध लिया गया। राजगुरु शंख तथा लिखितकी आज्ञासे यह घोषणा कर दी गयी कि 'अमुक समयतक सब योद्धा रणक्षेत्रमें उपस्थित हो जायँ। जो ठीक समयपर नहीं पहुँचेगा, उसे उबलते हुए तेलके कड़ाहेमें डाल दिया जायगा।'

राजा हंसध्वजके पाँच पुत्र थे—सुबल, सुरथ, सम, सुदर्शन तथा सुधन्वा। छोटे राजकुमार सुधन्वा अपनी माताके पास आज्ञा लेने पहुँचे। वीरमाताने पुत्रको हृदयसे लगाया और आदेश दिया—'बेटा! तू युद्धमें जा और विजयी होकर लौट! परंतु मेरे पास चार पैरवाले पशुको मत ले आना। मैं तो मुक्तिदाता 'हरि' को पाना चाहती हूँ। तू वही कर्म कर, जिससे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों। वे भक्तवत्सल हैं। यदि तू अर्जुनको युद्धमें छका सके तो वे पार्थकी रक्षाके लिये अवश्य आयेंगे। वे अपने भक्तको कभी छोड़ नहीं सकते। देख, तू मेरे दूधको लज्जित मत करना। श्रीकृष्णको देखकर डरना मत। श्रीकृष्णके सामने युद्धमें मरनेवाला मरता नहीं, वह तो अपनी इक्कीस पीढ़ियाँ तार देता है। युद्धमें लड़ते हुए पुरुषोत्तमके सम्मुख तू यदि वीरगति प्राप्त करेगा तो मुझे सच्ची प्रसन्नता होगी।' धन्य माता!

सुधन्वाने माताकी आज्ञा स्वीकार की। बहन कुबलासे आज्ञा तथा प्रोत्साहन प्राप्तकर वे अपने अन्तःपुरमें गये। द्वारपर उनकी सती पत्नी प्रभावती पहलेसे पूजाका थाल सजाये पतिकी आरती उतारनेको खड़ी थी। उसने पतिकी पूजा करके प्रार्थना की—'नाथ! आप अर्जुनसे संग्राम करने जा रहे हैं। मैं चाहती हूँ कि आपके चले जानेपर एक अंजलि देनेवाला पुत्र रहे।'

सुधन्वाने पत्नीको समझाना चाहा, पर वह पतिव्रता थी। उसने कहा—'मेरे स्वामी! मैं जानती हूँ कि श्रीकृष्णचन्द्रके समीप जाकर कोई इस संसारमें लौटता नहीं। मैं तो आपकी दासी हूँ। आपकी इच्छा और आपके हितमें ही मेरा हित है। मैं आपके इस मंगल-प्रस्थानमें बाधा नहीं देना चाहती। इस दासीकी तो एक तुच्छ प्रार्थना है। आपको वह प्रार्थना पूर्ण करनी चाहिये।'

अनेक प्रकारसे सुधन्वाने समझाना चाहा; किंतु अन्तमें प्रभावतीकी विजय हुई। सती नारीकी धर्मसम्मत प्रार्थना वे अस्वीकार नहीं कर सके। वहाँसे फिर स्नान-प्राणायाम करके वे युद्धके लिये रथपर बैठे।

उधर युद्ध-भूमिमें महाराज हंसध्वज अपने चारों राजकुमारोंके साथ पहुँच गये। सभी शूर एकत्र हो गये; किंतु समय हो जानेपर भी जब सुधन्वा नहीं पहुँचे, तब राजाने उन्हें पकड़ लानेके लिये कुछ सैनिक भेजे। सैनिकोंको सुधन्वा मार्गमें ही मिल गये। पिताके पास पहुँचकर जब उन्होंने विलम्बका कारण बताया, तब क्रोधमें भरकर महाराज कहने लगे—'तू बड़ा मूर्ख है। यदि पुत्र होनेसे ही सद्गति होती हो तो सभी कूकर-शूकर स्वर्ग ही जायँ। तेरे धर्म तथा विचारको धिक्कार है। श्रीकृष्णचन्द्रका नाम सुनकर भी तेरा मन कामके वश हो गया! ऐसा कामी, भगवान्से विमुख कुपुत्रका तो तेलमें उबलकर ही मरना ठीक है।'

राजाने व्यवस्थाके लिये पुरोहितोंके पास दूत भेजा। धर्मके मर्मज्ञ, स्मृतियोंके रचयिता ऋषि शंख और लिखित बड़े क्रोधी थे। उन्होंने दूतसे कहा—'राजाका मन पुत्रके मोहसे धर्मभ्रष्ट हो गया है। जब सबके लिये एक ही आज्ञा थी, तब व्यवस्था पूछनेकी क्यों आवश्यकता हुई!' जो मन्दबुद्धि लोभ, मोह या भयसे अपने वचनोंका पालन नहीं करता, उसे नरकके दारुण दुःख मिलते हैं। हंसध्वज पुत्रके कारण अपने वचनोंको आज झूठा करना चाहता है। ऐसे अधर्मी राजाके राज्यमें हम नहीं रहना चाहते। इतना कहकर वे दोनों ऋषि चल पड़े।

दूतसे समाचार पाकर राजाने मन्त्रीको आदेश दिया—'सुधन्वाको उबलते तेलके कड़ाहेमें डाल दो।' इतना आदेश देकर वे दोनों पुरोहितोंको मनाने चले गये। मन्त्रीको बड़ा दुःख हुआ; किंतु सुधन्वाने उन्हें कर्तव्यपालनके लिये दृढ़तापूर्वक समझाया। पिताकी आज्ञाका सत्पुत्रको पालन करना ही चाहिये, यह उसने निश्चय किया। उसने तुलसीकी माला गलेमें डाली और हाथ जोड़कर भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो! गोविन्द, मुकुन्द! मुझे मरनेका कोई भय नहीं है। मैं तो आपके चरणोंमें देहत्याग करने ही आया था; परंतु मैं आपका

प्रत्यक्ष दर्शन न कर सका, यही मुझे दु:ख है। मैंने आपका तिरस्कार करके बीचमें कामकी सेवा की, क्या इसीलिये आप मेरी रक्षाको अपने अभय हाथ नहीं बढ़ाते? पर मेरे स्वामी! जो लोग कष्टमें पड़कर, भयसे व्याकुल होकर आपकी शरण लेते हैं, उन्हें क्या सुखकी प्राप्ति नहीं होती? मैं आपका ध्यान करते हुए शरीर छोड़ रहा हूँ, अत: आपको अवश्य प्राप्त होऊँगा; किंतु लोग कहेंगे कि सुधन्वा वीर होकर भी कड़ाहेमें जलकर मरा। मैं तो आपके भक्त अर्जुनके बाणोंको अपना शरीर भेंट करना चाहता हूँ। आपने अनेक भक्तोंकी टेक रखी है, अनेकोंकी इच्छा पूर्ण की है, मेरी भी इच्छा पूर्ण कीजिये। अपने इस चरणाश्रितकी टेक भी रखिये। इस अग्निदाहसे बचाकर इस शरीरको अपने चरणोंमें गिरने दीजिये।' इस प्रकार प्रार्थना करके 'हरे! गोविन्द! श्रीकृष्ण!' आदि भगवन्नामोंको पुकारते हुए सुधन्वा कड़ाहेके खौलते तेलमें कूद पड़े।

एक दिन प्रह्लादके लिये अग्निदेव शीतल हो गये थे, एक दिन व्रजबालकोंके लिये मयूरमुकुटीने दावाग्निको पी लिया था, आज सुधन्वाके लिये खौलता तेल शीतल हो गया! सुधन्वाको तो शरीरका भान ही नहीं था। वे तो अपने श्रीकृष्णको पुकारने, उनका नाम लेनेमें तल्लीन हो गये थे; किंतु देखनेवाले आश्चर्यमूढ़ हो रहे थे। खौलते तेलमें सुधन्वा जैसे तैर रहे हों। उनका एक रोमतक झुलस नहीं रहा था। यह बात सुनकर राजा हंसध्वज भी दोनों पुरोहितोंके साथ वहाँ आये। श्रद्धारहित तार्किक पुरोहित शंखको सन्देह हुआ—'अवश्य इसमें कोई चालाकी है। भला, तेल गरम होता तो उसमें सुधन्वा बचा कैसे रहता! कोई मन्त्र या ओषधिका प्रयोग तो नहीं किया गया?' तेलकी परीक्षाके लिये उन्होंने एक नारियल कड़ाहेमें डाला। उबलते तेलमें पड़ते ही नारियल फूट गया। उसके दो टुकड़े हो गये और उछलकर वे बड़े जोरसे शंख तथा लिखितके सिरमें लगे। अब उनको भगवान्‌के महत्त्वका ज्ञान हुआ। सेवकोंसे उन्होंने पूछा कि 'सुधन्वाने कोई ओषधि शरीरमें लगायी क्या? अथवा उसने किसी मन्त्रका जप किया था?' सेवकोंने बताया कि 'राजकुमारने ऐसा कुछ नहीं किया। वे प्रारम्भसे भगवान्‌का नाम ले रहे हैं।' अब शंखको अपने अपराधका पता लगा। उन्होंने कहा—'मुझे धिक्कार है! मैंने भगवान्‌के एक सच्चे भक्तपर सन्देह किया। प्रायश्चित्त करके प्राण त्यागनेका निश्चयकर शंखमुनि उसी उबलते तेलके कड़ाहेमें कूद पड़े; किंतु सुधन्वाके प्रभावसे उनके लिये भी तेल शीतल हो गया। मुनिने सुधन्वाको हृदयसे लगा लिया। उन्होंने कहा—'कुमार! तुम्हें धन्य है। मैं तो ब्राह्मण होकर शास्त्र पढ़कर भी असाधु हूँ। मूर्ख हूँ मैं। बुद्धिमान् और विद्वान् तो वही है, जो भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करता है। तुम्हारे स्पर्शसे मेरा यह अधम देह भी आज पवित्र हो गया। तुम-जैसे भगवान्‌के भक्तोंका तो दर्शन ही मनुष्य-जीवनकी परम सफलता है। राजकुमार! अब तुम इस तेलसे निकलो। अपने पिता, भाइयों और सेनाको पावन करके मेरा भी उद्धार करो! त्रिलोकीके स्वामी श्रीकृष्ण जिनके सारथि बनते हैं, उन धनुर्धर अर्जुनको संग्राममें तुम्हीं सन्तुष्ट कर सकते हो।'

मुनिके साथ सुधन्वा कड़ाहेसे बाहर आये। राजा हंसध्वजने अपने भगवद्भक्त पुत्रका समादर किया और उन्हें आशीर्वाद दिया। पिताकी आज्ञासे सुधन्वा सेनानायक हुए। अर्जुनकी सेनासे उनका संग्राम होने लगा। सुधन्वाके शौर्यके कारण पाण्डवदलमें खलबली मच गयी। वृषकेतु, प्रद्युम्न, कृतवर्मा, सात्यकि आदि वीरोंको उस तेजस्वीने घायल करके पीछे हटनेको विवश कर दिया। अन्तमें अर्जुन सामने आये। अर्जुनको अपनी शूरताका कुछ दर्प भी था; किंतु सुधन्वा तो केवल श्यामसुन्दरके भरोसे युद्ध कर रहे थे। भगवान्‌को अपने भक्तका प्रभाव दिखलाना था। बालक सुधन्वाको अपने सामने देख पार्थको बड़ा आश्चर्य हुआ। सुधन्वाने उनसे कहा—'विजय! सदा आपके रथपर श्रीकृष्णचन्द्र सारथिके स्थानपर बैठे आपकी रक्षा किया करते थे, इसीसे आप सदा विजयी होते रहे। आज आपने अपने उन समर्थ सारथिको कहाँ छोड़ दिया? मेरे साथ

युद्ध करनेमें श्रीकृष्णने तो आपको नहीं छोड़ दिया? आप अब उन मुकुन्दसे रहित हैं, ऐसी दशामें मुझसे संग्राम कर भी सकेंगे या नहीं?'

सुधन्वाकी बातोंसे अर्जुन क्रुद्ध हो गये। उन्होंने बाण-वर्षा आरम्भ कर दी। परंतु हँसते हुए सुधन्वाने उनके बाणोंके टुकड़े-टुकड़े उड़ा दिये। अर्जुनके दिव्यास्त्रोंको भी राजकुमारने व्यर्थ कर दिया। स्वयं पार्थ घायल हो गये। उनका सारथि मरकर गिर पड़ा। सुधन्वाने फिर हँसकर कहा—'धनंजय! मैं तो पहले ही कहता था कि अपने सर्वज्ञ सारथिको छोड़कर आपने अच्छा नहीं किया। आपका सारथि मारा गया। आप मेरे बाणोंसे घायल हो गये हैं। अब भी शीघ्रतासे अपने उस श्यामरूप सारथिका स्मरण कीजिये।'

अर्जुनने बायें हाथसे घोड़ोंकी डोरी पकड़ी। एक हाथसे युद्ध करते हुए वे भगवान्‌को मन-ही-मन पुकारने लगे। उनके स्मरण करते ही श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट हो गये। उन्होंने अर्जुनके हाथसे रथकी रश्मि ले ली। सुधन्वा और अर्जुन दोनों ने भगवान्‌को प्रणाम किया। सुधन्वाके नेत्र आनन्दसे खिल उठे। जिसके लिये उसने युद्धमें अर्जुनको छकाया था, वह कार्य तो अब पूरा हुआ। कमललोचन श्रीकृष्णचन्द्र आ गये। उनके दर्शन करके वह कृतार्थ हो गया। अब उसे भला और क्या चाहिये। उसने अर्जुनको ललकारा—'पार्थ! आपके ये सर्वसमर्थ सारथि तो आ गये। अब तो आज मुझपर विजय पानेके लिये कोई प्रतिज्ञा करें।'

अर्जुनको भी आवेश आ गया। उन्होंने तीन बाण निकालकर प्रतिज्ञा की—'इन तीन बाणोंसे यदि मैं तेरा सुन्दर मस्तक न काट दूँ तो मेरे पूर्वज पुण्यहीन होकर नरकमें गिर पड़ें।'

अर्जुनकी प्रतिज्ञा सुनकर सुधन्वाने हाथ उठाकर कहा—'ये श्रीकृष्ण साक्षी हैं। इनके सामने ही मैं तुम्हारे इन तीनों बाणोंको काट न दूँ तो मुझे घोर गति प्राप्त हो।' यह कहकर सुधन्वाने श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको बाणोंसे घायल कर दिया। उनके रथको कुछ तोड़ डाला। बाणोंसे मारकर उनके रथको कुम्हारके चाककी भाँति घुमाने लगा। चार सौ हाथ पीछे हटा दिया उस रथको। भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन! सुधन्वा बहुत बाँका वीर है। मुझसे पूछे बिना प्रतिज्ञा करके तुमने अच्छा नहीं किया। जयद्रथ-वधके समय तुम्हारी प्रतिज्ञाने कितना संकट उपस्थित किया था, यह तुम भूल कैसे गये! सुधन्वा 'एकपत्नीव्रत' के प्रभावसे महान् है और इस विषयमें हम दोनों पिछड़े हुए हैं।'

अर्जुनने कहा—'गोविन्द! आप आ गये हैं, फिर मुझे चिन्ता ही क्या। जबतक आपके हाथमें मेरे रथकी डोरी है, मुझे कौन संकटमें डाल सकता है? मेरी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी होगी।' अर्जुनने एक बाण चढ़ाया। भगवान्‌ने अपने गोवर्धन-धारणका पुण्य उस बाणको अर्पित किया। बाण छूटा। कालाग्निके समान वह बाण चला। सुधन्वाने गोवर्धनधारी श्रीकृष्णका स्मरण करके बाण मारा और अर्जुनका बाण दो टुकड़े होकर गिर पड़ा। पृथ्वी काँपने लगी। देवता भी आश्चर्यमें पड़ गये। भगवान्‌की आज्ञासे अर्जुनने दूसरा बाण चढ़ाया। भक्तवत्सल प्रभुने उसे अपने बहुत-से पुण्य अर्पण किये। सुधन्वाने—'श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!' कहकर अपने बाणसे उसे भी काट दिया। अर्जुन उदास हो गये। रणभूमिमें हाहाकार मच गया। देवता सुधन्वाकी प्रशंसा करने लगे।

अब तीसरे बाणको भगवान्‌ने अपने रामावतारका पूरा पुण्य दिया। बाणके पिछले भागमें ब्रह्माजीको तथा मध्यमें कालको प्रतिष्ठित करके नोकपर वे स्वयं एक रूपसे बैठे। अर्जुनने वह बाण भगवान्‌के आदेशसे धनुषपर चढ़ाया। सुधन्वाने कहा—'नाथ! आप मेरा वध करने स्वयं बाणमें स्थित होकर आ रहे हैं, यह मैं जान गया हूँ। मेरे स्वामी! आओ। रणभूमिमें मुझे अपने श्रीचरणोंका आश्रय देकर कृतार्थ करो। अर्जुन! तुम्हें धन्य है! साक्षात् नारायण तुम्हारे बाणको अपना पुण्य ही नहीं देते, स्वयं बाणमें स्थित भी होते हैं।

विजय तो तुम्हारी है ही; किंतु भूलो मत! मैं इन्हीं श्रीकृष्णकी कृपासे इस बाणको भी अवश्य काट दूँगा।'

बाण छूटा। सुधन्वाने पुकार की—'भक्तवत्सल गोविन्दकी जय!' और बाण मार दिया। भक्तके प्रभावको काल देवता रोक लें, यह सम्भव नहीं। अर्जुनका बाण बीचमेंसे कटकर दो टुकड़े हो गया। सुधन्वाकी प्रतिज्ञा पूरी हुई। अब अर्जुनका प्रण पूरा होना था। बाण कट गया, पर उसका अगला भाग गिरा नहीं। उस आधे बाणने ही ऊपर उठकर सुधन्वाका मस्तक काट दिया। मस्तकहीन सुधन्वाके शरीरने पाण्डवसेनाको तहस-नहस कर दिया और उसका सिर भगवान्के चरणोंपर जाकर गिरा। श्रीकृष्णचन्द्रने 'गोविन्द, मुकुन्द, हरि' कहते उस मस्तकको अपने हाथोंमें उठा लिया। इसी समय परम भक्त सुधन्वाके मुखसे एक ज्योति निकली और सबके देखते-देखते वह श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें प्रविष्ट हो गयी।

भक्त सुरथ

सुरथ चम्पकपुरीके राजा हंसध्वजका पुत्र और सुधन्वाके भाई थे। अनुज सुधन्वाके मारे जानेपर परम भागवत वीर-धुरीण सुरथ रथपर आरूढ़ हो, बहुत बड़ी सेना साथमें ले, हाथमें कठिन कोदण्ड धारणकर समरांगणमें आकर अर्जुनसे बोले—महाबली पार्थ! अब मेरे साथ युद्ध करनेके लिये प्रस्तुत हो जाओ। तत्पश्चात् सुरथने श्रीकृष्णसे कहा—देवकीनन्दन! अब आप अर्जुनकी सम्यक् प्रकारसे रक्षा कीजिये। हरे! आपने अपना पुण्य प्रदान करके जो मेरे भाईका वध करा दिया है, यह तो आपकी बाल चेष्टा ही है। आपने अपनी हानिपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। जैसे कोई शिशु मोतियोंको देकर बदलेमें बेर ले लेता है, उस तरह आपने सुधन्वाके बेरसदृश जीवनको लेकर उसके बदलेमें मुक्ताफलरूपी अपना पुण्य प्रदान किया। अतः बताइये, यहाँ कौन किसके द्वारा ठगा गया? इस प्रकार श्रीकृष्णसे प्रेममय व्यंग्य-विनोद करके सुरथने अर्जुनको ललकारा। सुरथके रणोत्साहको देखकर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको इस महावीरके सम्मुख ले जाना उचित नहीं समझा, अतः सेनाको आगे करके श्रीकृष्ण अर्जुनको रणक्षेत्रसे तीन योजन दूर हटा ले गये। परंतु धन्य सुरथ! अर्जुनकी विशालवाहिनीको क्षणमात्रमें तितर-बितरकर तत्काल उस स्थानपर पहुँचे गये, जहाँ श्रीहरि विराजमान थे। अर्जुन और सुरथके घोर युद्धके ही बीच सुरथने कहा—पार्थ! मैंने सुन रखा है कि इस लोकमें तुम्हारी की हुई प्रतिज्ञा मिथ्या नहीं होती, अतः वीर! अब तुम कोई सत्य प्रतिज्ञा करो।

अर्जुनने कहा—वीर! मैं तुम्हारे पिताके सामने ही तुम्हें धराशायी करूँगा, यही प्रतिज्ञा है। अब तुम अपनी यथोचित प्रतिज्ञा बतलाओ। सुरथने कहा—अर्जुन! मैं भी तुम्हें युद्धस्थलमें रथसे भूतलपर गिरा दूँगा। यदि मैं इस वचनको सत्य न करूँ तो मेरा पुण्य नष्ट हो जाय। तत्पश्चात् बहुत देरतक दोनोंमें रोमहर्षण युद्ध होनेके बाद अर्जुनने एक सर्वदेवमय बाणसे सुरथके बड़े-बड़े नेत्रोंवाले तथा कुण्डलोंसे सुशोभित विशाल सिरको काट गिराया। भक्तके वचनको सत्य करनेके लिये भगवान्ने ऐसी लीला की कि सुरथका कटा हुआ सिर उछलकर अर्जुनके ललाटमें जा लगा, जिसके आघातसे वे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और वह सिर भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें गिर पड़ा। तदनन्तर भक्तवत्सल भगवान्ने अर्जुनको पृथ्वीसे उठाकर रथपर बैठाया और सुरथके सिरको दोनों हाथोंसे उठाकर देखने लगे। अर्जुनने भी उस सिरको लेकर, यह कहते हुए कि 'इसके समान कोई योद्धा नहीं है' युद्ध-स्थलमें उसकी वन्दना की। इसके बाद श्रीकृष्णने गरुड़जीसे कहा—पक्षिराज! वीरवर सुरथके सिरको लेकर शीघ्र ही प्रयागमें डाल दो। इस सिरके स्पर्शसे मेरा वह प्रयाग भी पावन हो जायगा। प्रयाग मेरा कोश है, अतः इस वीरके रत्नरूपी सिरको उस कोशमें डाल दो। श्रीगरुड़जीने ऐसा ही किया। भगवान् शिवने सुरथके सिरको अपनी मुण्डमालामें पिरो लिया। धन्य हैं सुरथ और धन्य है उनकी वीरता एवं श्रीकृष्णभक्ति!

महाराज शिबि

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

'मुझे राज्य नहीं चाहिये, स्वर्ग नहीं चाहिये और मोक्ष भी मैं नहीं चाहता। मैं तो नाना प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित प्राणियोंकी आर्ति—पीड़ाका नाश चाहता हूँ।'

उशीनरके पुत्र शरणागतवत्सल महाराज शिबि यज्ञ कर रहे थे। शिबिकी दयालुता तथा भगवद्भक्तिकी ख्याति पृथ्वीसे स्वर्गतक फैली थी। देवराज इन्द्रने राजाकी परीक्षा करनेका निश्चय किया। इन्द्रने बाज पक्षीका रूप धारण किया और अग्निदेव कबूतर बने। बाजके भयसे डरता, काँपता, घबराया कबूतर उड़ता आया और राजा शिबिकी गोदमें बैठकर उनके वस्त्रोंमें छिप गया। उसी समय वहाँ एक बड़ा भारी बाज भी आया। वह मनुष्यकी भाषामें राजासे कहने लगा—'राजन्! आप धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं, परंतु आज यह धर्मविरुद्ध आचरण क्यों कर रहे हैं? आपने कृतघ्नको धनसे, झूठको सत्यसे, निर्दयको क्षमासे तथा दुर्जनको अपनी साधुतासे ही सदा जीता है। आप तो अपनी बुराई करनेवालेका भी उपकार ही करते हैं। जो आपका अहित सोचते हैं, उनका भी आप भला ही करना चाहते हैं; पापियोंपर भी आप दया करते हैं। जो आपमें दोष ढूँढ़ते रहते हैं, उनके भी आप गुण ही देखते हैं। मैं भूखसे व्याकुल हूँ और भाग्यसे मुझे यह कबूतर आहारके रूपमें मिला है। अब आप मुझसे मेरा आहार छीनकर अधर्म क्यों कर रहे हैं?'

कबूतरने राजासे बड़ी कातरतासे कहा—'महाराज! मैं इस बाजके भयसे प्राणरक्षाके लिये आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी रक्षा करें।'

राजाने बाजसे कहा—'पक्षी! जो मनुष्य समर्थ रहते भी शरणागतकी रक्षा नहीं करते या लोभ, द्वेष अथवा भयसे उसे त्याग देते हैं, उनको ब्रह्महत्याके समान पाप लगता है, सर्वत्र उनकी निन्दा होती है। मैं मरूँगा—इस प्रकार सभीको मृत्युका भय तथा दुःख होता है। अपनेसे ही दूसरेके दुःखका अनुमान करके उसकी रक्षा करनी चाहिये। जैसे तुम्हें अपना जीवन प्यारा है, जैसे तुम भूखसे नहीं मरना चाहते, उसी प्रकार दूसरेकी जीवनरक्षा भी तुम्हें करनी चाहिये। मैं शरण आये हुए भयभीत कबूतरको तुम्हें नहीं दे सकता। तुम्हारा काम और किसी प्रकार हो सके तो बतलाओ।'

बाजने कहा—'वह धर्म धर्म नहीं है, जो दूसरेके धर्ममें बाधा दे। भोजनसे ही जीव उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं तथा जीवित रहते हैं। बिना भोजन कोई जीवित नहीं रह सकता। मैं भूखसे मर जाऊँ तो मेरे बाल-बच्चे भी मर जायँगे। एक कबूतरको बचानेमें अनेकोंके प्राण जायँगे। आप परस्परविरोधी इन धर्मोंमें सोच-समझकर निर्णय करें कि एकको प्राणरक्षा ठीक है या कईकी।'

राजाने कहा—'बाज! भयभीत जीवोंकी रक्षा ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। दयासे द्रवित होकर जो दूसरोंको अभयदान देता है, वह मरनेपर संसारके महान् भयसे छूट जाता है। यश और स्वर्गके लिये तो बहुत लोग दान-पुण्य करते हैं; किंतु सब जीवोंकी निःस्वार्थ भलाई करनेवाले पुरुष थोड़े ही हैं। यज्ञोंका फल चाहे जितना बड़ा हो, अन्तमें क्षय हो जाता है, पर प्राणीको अभयदान देनेका फल कभी क्षय नहीं होता। मैं सारा राज्य तथा अपना शरीर भी तुम्हें दे सकता हूँ, पर इस भयभीत दीन कबूतरको नहीं दे सकता। तुम तो केवल आहारके लिये ही उद्योग कर रहे हो, अतः कोई भी दूसरा आहार माँग लो, मैं तुम्हें दूँगा।'

बाजने कहा—'राजन्! मैं मांसभक्षी प्राणी हूँ। मांस ही मेरा आहार है। कबूतरके बदले आप और किसी प्राणीको मारें या मरने दें, इससे कबूतरको मरने देनेमें मुझे तो कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। हाँ, आप चाहें

तो अपने शरीरसे इस कबूतरके बराबर मांस तौलकर मुझे दे सकते हैं। मुझे अधिक नहीं चाहिये।'

राजाको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने कहा—'बाज! तुमने मुझपर बड़ी कृपा की। यदि यह शरीर प्राणियोंके उपकारमें न आये तो प्रतिदिनका इसका पालन-पोषण व्यर्थ ही है। इस नाशवान् अनित्य शरीरसे नित्य, अविनाशी धर्म किया जाय, यही तो शरीरकी सफलता है।'

एक तराजू मँगाया गया। एक पलड़ेमें कबूतरको रखकर दूसरेमें राजा शिबि अपने हाथों अपने शरीरका मांस काट-काटकर रखने लगे। कबूतरके प्राण बचें और बाजको भी भूखका कष्ट न हो, इसलिये वे राजा बिना पीड़ा या खेद प्रकट किये अपना मांस काटकर पलड़ेपर रखते जाते थे; किंतु कबूतरका वजन बढ़ता ही जाता था। अन्तमें राजा स्वयं तराजूपर चढ़ गये। उनके ऐसा करते ही आकाशमें बाजे बजने लगे। ऊपरसे फूलोंकी वर्षा होने लगी।

'ये मनुष्यभाषा बोलनेवाले बाज और कबूतर कौन हैं? ये बाजे क्यों बजते हैं?' राजा शिबि यह सोच ही रहे थे कि उनके सामने अग्निदेव और इन्द्र अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गये। देवराज इन्द्रने कहा—'राजन्! तुमने बड़ोंसे कभी ईर्ष्या नहीं की, छोटोंका कभी अपमान नहीं किया और बराबरवालोंसे कभी स्पर्धा नहीं की; अतः तुम संसारमें सर्वश्रेष्ठ हो। जो मनुष्य अपने प्राणोंको त्यागकर भी दूसरोंकी प्राणरक्षा करता है, वह परम धामको जाता है। पशु भी अपना पेट तो भर ही लेते हैं; पर प्रशंसनीय वे पुरुष हैं, जो परोपकारके लिये जीते हैं। संसारमें तुम्हारे समान अपने सुखकी इच्छासे रहित केवल परोपकार-परायण साधु जगत्की रक्षाके लिये ही जन्म लेते हैं। तुम दिव्यरूप प्राप्त करो और चिरकालतक पृथ्वीका सुख भोगो। अन्तमें तुम्हें परमपद प्राप्त होगा।' यों कहकर इन्द्र और अग्नि स्वर्ग चले गये।

राजा शिबि भगवान्में मन लगाकर चिरकालतक पृथ्वीका शासन करते रहे और अन्तमें भगवद्धाम पधारे।

बलिपत्नी श्रीविन्ध्यावलीजी

श्रीविन्ध्यावलीजी परम भगवद्भक्त राजा बलिकी धर्मपत्नी थीं। बड़ी सात्त्विक प्रकृति थी इनकी। भक्तिकी तो ये जीवित मंजुल प्रतिमा थीं। ये प्रभुकी प्रत्येक क्रियामें उनकी मंगलमयी लीला देखती थीं।

भगवान्ने वामनरूपमें इनके पतिसे तीन पग पृथ्वीका संकल्प करा लिया, पर पृथ्वी नापनेके समय उन्होंने अपना महान् रूप धारण किया। बलि बन्दी हो गये।

पतिको इस दशामें देखकर श्रीविन्ध्यावलीजीके मनमें तनिक भी खेद नहीं हुआ। वे भगवान्की महिमासे पूर्ण परिचित थीं। स्तुति करते हुए उन्होंने कहा 'प्रभो! पतिका सर्वस्व छीनकर आपने इन्हें बन्दी बना लिया, बड़ा ही अच्छा किया। आपकी ही पृथ्वी आपको ही ये दान दे रहे थे। इसका इनके मनमें गर्व भी था। बड़ी कृपा की प्रभु आपने। पतिदेवका अभिमान दूर हो गया। आपकी इस अनुपम दयासे मैं अत्यन्त आनन्द पा रही हूँ।'

भक्तिमती श्रीविन्ध्यावलीजीकी निष्ठा अद्वितीय थी। इनका प्रभु-प्रेम अवर्णनीय था।

श्रीप्रियादासजीने महाराज बलिकी पत्नी विन्ध्यावलीजीकी महिमा अपने कवित्तमें इस प्रकार वर्णित की है—

विन्ध्यावली तियासी न देखी कहूँ तिया नैन बाँध्यो प्रभु पिया देखि कियो मन चौगुनौ।
करि अभिमान दान देन बैठ्यो तुमहीं को कियो अपमान मैं तो मान्यों सुख सौगुनौ॥
त्रिभुवन छीनि लिये दिये बैरी देवतान प्रानमात्र रहे हरि आन्यो नहिं औगुनौ।
ऐसी भक्ति होइ जो पै जागौ रहौ सोइ अहो रहो भव मांझ ऐ पै लागै नहीं भौगुनौ॥ ८७॥

राजा बलिकी धर्मपत्नी विन्ध्यावलीजीके समान कोई भी स्त्री देखने-सुननेमें नहीं आयी। जिसने वामनभगवान्‌द्वारा अपने पतिको बाँधा गया देखकर मनको थोड़ा भी मलिन नहीं किया, बल्कि मनमें अति प्रसन्न हुई। उस समय भगवान्‌की प्रार्थना करते हुए विन्ध्यावलीजीने कहा—प्रभो! राजा आपका सेवक होकर 'मैं बड़ा दानी हूँ', इस अभिमानके वश अपनेको दानी और अनन्तकोटिब्रह्माण्डके स्वामी आपको तुच्छ भिक्षुक मानकर दान करने बैठ गया। इससे आपका बड़ा भारी अपमान हुआ। आपने जो कृपारूप दण्ड देकर इसके अभिमानको चूर किया, इससे मैंने सौगुना सुख पाया। अहो, देखिये, रानी विन्ध्यावलीकी कैसी अपूर्व निष्ठा है कि वामनभगवान्‌ने राजासे छलपूर्वक तीनों लोकोंको छीनकर राजा बलिके शत्रु देवताओंको दे दिया, पतिको अति अपमानित करके बँधवा दिया, नरक भेजनेकी धमकी दी। बलिके केवल प्राणमात्र शेष रहे, फिर भी विन्ध्यावलीजीने भगवान्‌में कोई दोष नहीं देखा, राजाकी ही भूल मानी। यदि भगवान्‌की दयासे किसीमें ऐसी भक्ति हो तो वह चाहे जागता [सावधान होकर सत्कर्म करता] रहे अथवा सोता (लोगोंकी दृष्टिमें निष्क्रिय) रहे—दोनों अवस्थाएँ समान हैं। वह संसारमें संसारीकी भाँति व्यवहार करता रहे, उसपर मायाके गुण नहीं लगेंगे। वह जीवन्मुक्त है॥ ८७॥

श्रीनीलध्वजजी

ये माहिष्मती नगरीके राजा थे। इनके प्रवीर नामका एक महापराक्रमी पुत्र था। महाराज युधिष्ठिरके यज्ञीय अश्वको प्रवीरने पकड़ लिया और अपने शौर्यके अभिमानमें अर्जुनके पास यह सन्देश भिजवा दिया कि मुझ नीलध्वजके पुत्र प्रवीरने यज्ञीय अश्वको पकड़कर माहिष्मती नगरीमें भेज दिया है, अब अर्जुन कोप करके इसे छुड़ा लें। प्रवीरकी इस चुनौतीको स्वीकार करते हुए घोर संग्राम हुआ। प्रवीर पाण्डव वीरोंके समक्ष नहीं टिक सका, तब इसके पिता महाराज नीलध्वज तीन अक्षौहिणी सेना लेकर युद्धभूमिमें आ डटे। इनका मुकाबला वीरवर अर्जुनसे रहा। अर्जुनने इन्हें मूर्च्छित कर दिया। नीलध्वजने अपनी स्वाहा नामकी कन्या अग्निदेवको ब्याही थी। अपनेको संकटमें पड़ा जानकर इन्होंने अपने जामाता अग्निदेवको बाणाग्र भागपर प्रतिष्ठित करके पाण्डव सेनापर छोड़ दिया, जिससे बहुत-से वीर क्षणमात्रमें भस्म हो गये।

यद्यपि अर्जुनने अग्निको शान्त करनेके लिये वरुणास्त्रका प्रयोग किया, लेकिन अग्निदेव नहीं शान्त हुए, तब अर्जुनने नारायणास्त्रका प्रयोग किया। नारायणास्त्रका धनुषपर सन्धान हुआ देखकर अग्निदेव शान्त हो गये और अर्जुनके यह पूछनेपर कि अबतक तो आपकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा रही है। आपने ही मुझे गाण्डीव धनुष और दिव्य रथ प्रदान किया है तथा आप सर्वदा मेरे साथ उत्तम और दिव्य सौहार्दका व्यवहार करते आये हैं, परंतु आज आप मेरे विरुद्ध अधिकाधिक उद्दीप्त होते जा रहे हैं, क्या बात है? अब आप यों प्रेमभावको तिलांजलि देकर विपरीत व्यवहार करनेपर उतारू हो गये हैं, तो बताइये, मैं कर ही क्या सकता हूँ?

अग्निदेवने कहा—धनंजय! यदि तुम कमलनयन श्रीकृष्णके समीप रहनेपर भी अश्वमेध-यज्ञद्वारा युधिष्ठिरको पवित्र करना चाहते हो तो उन श्रीहरिके बिना यज्ञ, देवता अथवा मन्त्र—कोई भी उन्हें पवित्र करनेमें समर्थ नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारा श्रीकृष्णमें विश्वास नहीं है। तुम क्षीरसागरको पाकर भी दूधके लिये बकरी क्यों दुहाते हो तथा उदित हुए सूर्यका परित्याग करके प्रकाशके लिये जुगनूकी आकांक्षा कैसे कर रहे हो? पार्थ! इस समय मैंने तुम्हारी सेनापर जो आक्रमण किया है, उसका प्रधान कारण यही है। नीलध्वजकी प्रेरणा तो गौण है। यह कहकर अग्निदेवने अर्जुनकी नष्ट समस्त सेनाको जीवित कर दिया और राजा नीलध्वजको समझाया कि भला जिन्होंने इन्द्रके खाण्डववनको सहज ही

जलाकर भस्म कर दिया, जो श्रीकृष्णके अन्तरंग सखा हैं, उन्हें कौन हरा सकता है? अत: आप उनका यह यज्ञीय अश्व वापस करके उनसे मित्रता कर लो, जिससे आपका कल्याण हो। राजा नीलध्वजने ऐसा ही किया और अर्जुनसे बोले—महाबाहु पार्थ! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? तब अर्जुनने कहा—भूपालशिरोमणे! आप श्रेष्ठ वीर हैं। इसलिये मेरे साथ रहकर मेरे इस यज्ञीय अश्वकी रक्षा कीजिये। राजा नीलध्वज 'तथास्तु' कहकर राज्य अपने पुत्र प्रवीरको सौंपकर अर्जुनके साथ हो लिये और अश्व-रक्षामें अपने अद्भुत पराक्रमका परिचय दिया। अर्जुनके द्वारा राजा नीलध्वजजीकी बड़ाई सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने बड़े प्रेमसे इनका गाढ़ आलिंगन किया।

भक्त मयूरध्वज एवं ताम्रध्वज

द्वापरके अन्तमें रत्नपुरके अधिपति महाराज मयूरध्वज एक बहुत बड़े धर्मात्मा तथा भगवद्भक्त सन्त हो गये हैं। इनकी धर्मशीलता, प्रजावत्सलता एवं भगवान्‌के प्रति स्वाभाविक अनुराग अतुलनीय ही था। इन्होंने भगवत्प्रीत्यर्थ अनेकों बड़े-बड़े यज्ञ किये थे, करते ही रहते थे।

एक बार इनका अश्वमेधका घोड़ा छूटा हुआ था और उसके साथ इनके वीर पुत्र ताम्रध्वज तथा प्रधान-मन्त्री सेनाके साथ रक्षा करते हुए घूम रहे थे। उधर उन्हीं दिनों धर्मराज युधिष्ठिरका भी अश्वमेध यज्ञ चल रहा था और उनके घोड़ेके रक्षकरूपमें अर्जुन और उनके सारथि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण साथ थे। मणिपुरमें दोनोंकी मुठभेड़ हो गयी।

उन दिनों भगवान्‌के सारथ्य और अनेकों वीरोंपर विजय प्राप्त करनेके कारण अर्जुनके मनमें कुछ अपनी भक्ति तथा वीरताका गर्व-सा हो आया था। सम्भव है, इसीलिये अथवा अपने एक छिपे हुए भक्तकी महिमा प्रकट करनेके लिये भगवान्‌ने एक अद्‌भुत लीला रची। परिणामत: युद्धमें श्रीकृष्णके ही बलपर मयूरध्वजके पुत्र ताम्रध्वजने विजय प्राप्त की और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन दोनोंको मूर्च्छित करके वह दोनों घोड़ोंको अपने पिताके पास ले गया। पिताके पूछनेपर मन्त्रीने बड़ी प्रसन्नतासे सारा समाचार कह सुनाया। किंतु सब कुछ सुन लेनेके पश्चात् मयूरध्वजने बड़ा खेद प्रकट किया। उन्होंने कहा—'तुमने बुद्धिमानीका काम नहीं किया। श्रीकृष्णको छोड़कर घोड़ेको पकड़ लेना या यज्ञ पूरा करना अपना उद्देश्य नहीं है! तुम मेरे पुत्र नहीं, बल्कि शत्रु हो, जो भगवान्‌के दर्शन पाकर भी उन्हें छोड़कर चले आये।' इसके बाद वे बहुत पश्चात्ताप करने लगे।

उधर जब अर्जुनकी मूर्च्छा टूटी, तब उन्होंने श्रीकृष्णसे घोड़ेके लिये बड़ी व्यग्रता प्रकट की। भगवान् अपने भक्तकी महिमा दिखानेके लिये स्वयं ब्राह्मण बने और अर्जुनको अपना शिष्य बनाया तथा दोनों मयूरध्वजकी यज्ञशालामें उपस्थित हुए। इनके तेज और प्रभावको देखकर मयूरध्वज अपने आसनसे उठकर नमस्कार करनेवाले ही थे कि इन्होंने पहले ही 'स्वस्ति' कहकर आशीर्वाद दिया। मयूरध्वजने इनके इस कर्मको अनुचित बतलाते हुए इन्हें नमस्कार किया और स्वागत-सत्कार करके अपने योग्य सेवा पूछी। ब्राह्मणवेशधारी भगवान्‌ने अपनी इच्छित वस्तु लेनेकी प्रतिज्ञा कराकर बतलाया—'मैं अपने पुत्रके साथ इधर आ रहा था कि मार्गमें एक सिंह मिला और उसने मेरे पुत्रको खाना चाहा। मैंने पुत्रके बदले अपनेको देना चाहा, पर उसने स्वीकार नहीं किया। बहुत अनुनय-विनय करनेपर उसने यह स्वीकार किया है कि राजा मयूरध्वज पूर्ण प्रसन्नताके साथ अपनी स्त्री और पुत्रके द्वारा अपने आधे शरीरको आरेसे चिरवाकर मुझे दे दें, तो मैं तुम्हारे पुत्रको छोड़ सकता हूँ।' राजाने बड़ी प्रसन्नतासे यह बात स्वीकार कर ली। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि इस वेशमें स्वयं भगवान् ही मेरे सामने उपस्थित हैं। यह बात सुनते ही सम्पूर्ण सदस्योंमें

हलचल मच गयी। साध्वी रानीने अपनेको उनका आधा शरीर बताकर देना चाहा, पर भगवान्ने दाहिने अंशकी आवश्यकता बतलायी। पुत्रने भी अपनेको पिताकी प्रतिमूर्ति बताकर सिंहका ग्रास बननेकी इच्छा प्रकट की; पर भगवान्ने उसके द्वारा चीरे जानेकी बात कहकर उसकी प्रार्थना भी अस्वीकार कर दी।

अन्तमें दो खम्भे गाड़कर उनके बीचमें हँसते हुए और उच्चस्वरसे भगवान्के 'गोविन्द', 'मुकुन्द', 'माधव' आदि मधुर नामोंका सस्वर उच्चारण करते हुए मयूरध्वज बैठ गये और उनके स्त्री-पुत्र आरा लेकर उनके सिरको चीरने लगे। सदस्योंने आपत्ति करनेका भाव प्रकट किया; परंतु महाराजने यह कहकर कि 'जो मुझसे प्रेम करते हों, मेरा भला चाहते हों, वे ऐसी बात न सोचें' सबको मना कर दिया। जब उनका शरीर चीरा जाने लगा, तब उनकी बायीं आँखसे आँसूकी कुछ बूँदें निकल पड़ीं, जिन्हें देखते ही ब्राह्मणदेवता बिगड़ गये और यह कहकर चल पड़े कि 'दुःखसे दी हुई वस्तु मैं नहीं लेता।' फिर अपनी स्त्रीकी प्रार्थनासे मयूरध्वजने उन ब्राह्मणदेवताको बुलाकर बड़ा आग्रह किया और समझाया कि 'भगवन्! आँसू निकलनेका यह भाव नहीं है कि मेरा शरीर काटा जा रहा है; बल्कि बायीं आँखसे आँसू निकलनेका यह भाव है कि ब्राह्मणके काम आकर दाहिना अंग तो सफल हो रहा है, परंतु बायाँ अंग किसीके काम न आया। बायीं आँखके खेदका यही कारण है।'

अपने परम प्रिय भक्त मयूरध्वजका यह विशुद्ध भाव देखकर भगवान्ने अपने-आपको प्रकट कर दिया। शंख-चक्र-गदाधारी, चतुर्भुज, पीताम्बर पहने हुए, मयूरमुकुटी प्रभुने अभयदान देते हुए उनके शरीरका स्पर्श किया और स्पर्श पाते ही मयूरध्वजका शरीर पहलेकी अपेक्षा अधिक सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट एवं बलिष्ठ हो गया। वे भगवान्के चरणोंपर गिरकर स्तुति करने लगे। भगवान्ने उन्हें सान्त्वना दी और वर माँगनेको कहा। उन्होंने भगवान्के चरणोंमें अविचल प्रेम माँगा और आगे चलकर 'वे भक्तोंकी ऐसी परीक्षा न लें' इसका अनुरोध किया। भगवान्ने बड़े प्रेमसे उनकी अभिलाषा पूर्ण की और स्वयं अपने सिरपर कठोरताका लांछन लेकर भी अपने भक्तकी महिमा बढ़ायी। अर्जुन उनके साथ-ही-साथ सब लीला देख रहे थे। उन्होंने मयूरध्वजके चरणोंपर गिरकर अपने गर्वकी बात कही और भक्तवत्सल भगवान्की इस लीलाका रहस्य अपने घमण्डको चूर करना बतलाया। अन्तमें तीन दिनोंतक उनका आतिथ्य स्वीकार करनेके पश्चात् घोड़ा लेकर वे दोनों चले गये और मयूरध्वज निरन्तर भगवान्के प्रेममें छके रहने लगे।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज उपर्युक्त घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

अर्जुन के गर्व भयो कृष्ण प्रभु जानि लियो दियो रस भारी याहि रोग यों मिटाइयै।
मेरो एक भक्त आहि तो को लै दिखाऊँ ताहि भये विप्र वृद्ध संग बाल चलि जाइयै॥
पहुँचत भाष्यो जाइ मोरध्वज राजा कहाँ वेगि सुधि देवो काहू बात जा जनाइयै।
सेवा प्रभु करौं नेकु रहौ पाउँ धरौं जाइ कहौ तुम बैठो कही आग सी लगाइयै॥ ८८॥
चले अनखाय पाँय गहि अटकाय जाय नृप को सुनाय ततकाल दौरे आये हैं।
बड़ी कृपा करी आज फरी चाह बेलि मेरी निपट नबेल फल पाँय याते पाये हैं॥
दीजै आज्ञा मोहिं सोई कीजै सुख लीजै यही, पीजै वाणी रस मेरे नैन लै सिराये हैं।
सुनि क्रोध गयो मोद भयो सो परीक्षाहियै लिये चित चाव ऐसे बचन सुनाये हैं॥ ८९॥
देबे की प्रतिज्ञा करो करी जू प्रतिज्ञा हम जाहि भाँति सुख तुम्हैं सोई मोको भाई है।
मिल्यो मग सिंह यहि बालक को खाये जात कही खावो मोहिं नहीं यही सुखदाई है॥

काहू भाँति छोड़ो नृप आधो जो शरीर आवै तौ ही याहि तजौं कहि बात मों जनाई है।
बोलि उठी तिया अरधङ्गी मोहि जाइ देवो पुत्र कहै मोको लेवो और सुधि आई है॥ ९०॥
सुनो एक बात सुत तिया लै करौंत गात चीरैं धीरैं भीरैं नाहिं पीछे उन भाखिये।
कीन्ह्यो वाही भाँति अहो नासा लगि आयो जब ढर्‌यो दृग नीर भीर बाकर न चाखिये॥
चले अनखाय गहि पाँय सो सुनाये बैन नैन जल बांयो अङ्ग काम किहिं नाखिये।
सुनि भरि आयो हियो निज तनु श्याम कियो दियो सुखरूप व्यथा गई अभिलाषिये॥ ९१॥
मोपै तौ दियौ न जाइ निकट रिझाइ लियो तऊ रीझि दिये बिना मेरे हिये साल है।
माँगौ बर कोटि चोट बदलो न चूकत है सूखत है मुख सुधि आये वही हाल है॥
बोल्यौ भक्तराज तुम बड़े महाराज कोऊ थोरोऊ करत काज मानो कृत जाल है।
एक मोको दीजै दान दीयो जू बखानो बेगि साधुपै परीक्षा जनि करो कलिकाल है॥ ९२॥

श्रीअलर्कजी

महाराज अलर्क महाराज ऋतध्वज और महारानी मदालसाके चार पुत्रोंमें सबसे छोटे थे। इनके अन्य ज्येष्ठ भाइयोंके नाम विक्रान्त, सुबाहु और शत्रुमर्दन थे। इनकी माता महारानी मदालसा अत्यन्त विदुषी और ब्रह्मज्ञानी थीं। उन्होंने अलर्कके ज्येष्ठ भाइयोंको बचपनसे ही ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा दी, जिससे वे लोग ब्रह्मज्ञानी होकर जीवन्मुक्त हो गये। राजाके कहनेपर उन्होंने अलर्कको ब्रह्मज्ञान न देकर क्षत्रियोचित कर्तव्यका ज्ञान कराया। वे बचपनमें ही अलर्कको लोरीके माध्यमसे राजाका कर्तव्य बताते हुए कहतीं—

राज्यं कुर्वन् सुहृदो नन्दयेथाः
साधून् रक्षंस्तात यज्ञैर्यजेथाः।
दुष्टान् निघ्नन् वैरिणश्चाजिमध्ये
गोविप्रार्थे वत्स मृत्युं व्रजेथाः॥

अर्थात् हे तात! राज्य करते हुए अपने सुहृदोंको प्रसन्न रखना, साधु पुरुषोंकी रक्षा करते हुए यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करना, संग्राममें दुष्ट शत्रुओंका संहार करते हुए गौ और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये अपने प्राण निछावर कर देना।

अलर्कको राजनीतिका उपदेश देते हुए वे कहती हैं कि बेटा! राज्याभिषेक होनेपर राजाको उचित है कि वह अपने धर्मके अनुकूल चलता हुआ आरम्भसे ही प्रजाको प्रसन्न रखे। सातों व्यसनों (कटु वचन बोलना, कठोर दण्ड देना, धनका अपव्यय करना, मदिरा पीना, स्त्रियोंमें आसक्ति रखना, शिकार खेलनेमें व्यर्थ समय लगाना और जुआ खेलना)-का परित्याग कर दे; क्योंकि वे राजाका मूलोच्छेद करनेवाले हैं। अपनी गुप्त मन्त्रणाके बाहर फूटनेसे उसके द्वारा लाभ उठाकर शत्रु आक्रमण कर देते हैं; अतः ऐसा न होने देकर शत्रुओंसे अपनी रक्षा करे। जैसे रथी रथकी गति वक्र होनेपर आठों प्रकारसे नाशको प्राप्त होता है, उसके ऊपर आठों दिशाओंसे प्रहार होने लगते हैं, उसी प्रकार गुप्त मन्त्रणाके बाहर फूटनेपर राजाके आठों वर्गों (खेतीकी उन्नति, व्यापारकी वृद्धि, दुर्गनिर्माण, सेतुनिर्माण, जंगलसे हाथी पकड़कर मँगवाना, खानोंपर अधिकार प्राप्त करना, अधीन राजाओंसे कर लेना और निर्जन प्रदेशको आबाद करना)-का निश्चय ही नाश होता है। इसी प्रकारके अनेक राजोचित उपदेश माता मदालसाने अलर्कको दिये। वर्णधर्मका ज्ञान कराते हुए वे कहती हैं—वत्स! दान, अध्ययन और यज्ञ—ये तीन क्षत्रियके धर्म हैं। पृथ्वीकी रक्षा तथा शस्त्रग्रहण करके जीवननिर्वाह करना—यह उसकी जीविका है। गृहस्थ पुरुषके करनेयोग्य कार्योंका उपदेश करती हुई वे कहती हैं—गृहस्थ पुरुष प्रतिदिन

पितरोंके उद्देश्यसे अन्न और जलके द्वारा श्राद्ध करे और अनेक या एक ब्राह्मणको भोजन कराये। अन्नमेंसे अग्राशन निकालकर ब्राह्मणको दे। ब्रह्मचारी और संन्यासी जब भिक्षा माँगनेके लिये आयें तो उन्हें भिक्षा अवश्य दे। यथाशक्ति आदरपूर्वक अतिथिका पूजन करे। पुत्र! गृहस्थको सदा सदाचारका पालन करना चाहिये; क्योंकि वह इस लोक और परलोकमें भी कल्याणकारी है। वेदत्रयीका सदा स्वाध्याय करे, विद्वान् बने। धर्मानुसार धनका उपार्जन करे और उसे यत्नपूर्वक यज्ञमें लगाये। जिस कर्मको करते हुए अपने मनमें घृणा न हो और जिसे महापुरुषोंके समक्ष प्रकट करनेमें कोई संकोच न हो, ऐसा कर्म नि:शंक होकर करना चाहिये। ऐसे आचरणवाले गृहस्थ पुरुषको धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है और परलोकमें भी उसका कल्याण होता है।

मातासे इस प्रकार उपदेश ग्रहण करके अलर्कने युवावस्थामें विधिपूर्वक अपना विवाह किया। उससे अनेक पुत्र उत्पन्न हुए। उसने यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन किया। तदनन्तर बहुत समय बाद वृद्धावस्थाको प्राप्त होनेपर धर्मपरायण महाराज ऋतध्वजने महारानी मदालसाके साथ तपस्याहेतु वन जानेका विचार किया और पुत्र अलर्कका राज्याभिषेक कर दिया। उस समय मदालसाने अलर्ककी विषयभोग-विषयक आसक्तिको हटानेके लिये उससे यह अन्तिम वचन कहा—बेटा! गृहस्थ धर्मका अवलम्बन करके राज्य करते समय यदि तुम्हारे ऊपर कोई विपत्ति आ पड़े तो मेरी दी हुई इस अँगूठीसे यह उपदेशपत्र निकालकर, जो रेशमी वस्त्रपर बहुत सूक्ष्म अक्षरोंमें लिखा गया है, तुम अवश्य पढ़ना; क्योंकि ममतामें बँधा रहनेवाला गृहस्थ दु:खोंका केन्द्र होता है। यों कहकर मदालसाने अलर्कको सोनेकी अँगूठी दी और गृहस्थ पुरुषके योग्य अनेक उपदेश और आशीर्वाद भी दिये। तत्पश्चात् पुत्रको राज्य सौंपकर महाराज ऋतध्वज और महारानी मदालसा तपस्या करनेके लिये वनमें चले गये।

अलर्क यद्यपि धर्मात्मा राजा थे और वे अपनी प्रजाका न्यायपूर्वक पुत्रकी ही भाँति पालन करते थे, परंतु मनको प्रिय लगनेवाले विषयोंका भोग करते हुए उन्हें कभी भी उनकी ओरसे वैराग्य नहीं हुआ। उनकी ओरसे उन्हें अतृप्ति बनी ही रही। उनके इस प्रकार भोगमें आसक्त, प्रमादी और अजितेन्द्रिय होनेका समाचार उनके भाई सुबाहुने भी सुना, जो वनमें निवास करते थे। अलर्कको किसी तरह ज्ञान प्राप्त हो, इस अभिलाषासे उन्होंने काशिराजकी सहायतासे अलर्कपर आक्रमण करनेकी तैयारी की और दूत भेजकर कहलाया कि अपने बड़े भाई सुबाहुको राज्य दे दो। अलर्कने उत्तर दिया—'मेरे बड़े भाई मेरे ही पास आकर मुझसे प्रेमपूर्वक राज्य माँग लें। मैं किसीके आक्रमणके भयसे थोड़ी-सी भी भूमि नहीं दूँगा।' अलर्कका इस प्रकार उत्तर सुनकर काशिराजने अपनी समस्त सेनाके साथ अलर्कके राज्यपर चढ़ाई कर दी। उन्होंने अलर्कके सीमावर्ती नरेशोंको अपने अधीन कर लिया। इतना ही नहीं अलर्कके दुर्गरक्षकोंको भी साम, दान, दण्ड, भेदसे अपने वशवर्ती बना लिया। इस प्रकार शत्रुसेनासे घिरे अलर्कका सैन्यबल और कोश क्रमश: क्षीण होता जा रहा था, इससे उनका चित्त व्याकुल हो उठा। जब वे अत्यन्त वेदनासे व्यथित हो उठे, तब सहसा उन्हें उस अँगूठीका स्मरण हो आया, जिसे ऐसे ही अवसरोंपर उपयोग करनेके लिये उनकी माता मदालसाने दिया था। उन्होंने वह उपदेशपत्र निकालकर पढ़ा। उसमें लिखा था—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥

अर्थात् संग (आसक्ति)-का सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये; किंतु यदि उसका त्याग न किया जा

सके तो सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका संग ही उसकी औषधि है। कामनाको सर्वथा छोड़ देना चाहिये; परंतु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मुक्तिके प्रति इच्छा)-की कामना करनी चाहिये; क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामनाको मिटानेकी दवा है।

इस उपदेशको अनेक बार पढ़कर अलर्कने सोचा, 'मनुष्योंका कल्याण कैसे होगा? मुक्तिकी इच्छा जाग्रत् करनेपर। और मुक्तिकी इच्छा जाग्रत् होगी सत्संगसे।' ऐसा निश्चय करके सत्संगके लिये वे महात्मा दत्तात्रेयजीकी शरणमें गये। उनके चरणोंमें प्रणाम करके राजाने उनका पूजन किया और कहा—'ब्रह्मन्! आप शरणार्थियोंको शरण देनेवाले हैं। मुझपर कृपा कीजिये। मैं भोगोंमें अत्यन्त आसक्त और दुःखसे आतुर हूँ, आप मेरा दुःख दूर कीजिये।'

दत्तात्रेयजी बोले—राजन्! मैं अभी तुम्हारा दुःख दूर करता हूँ। सच-सच बताओ, तुम्हें किसलिये दुःख हुआ है?

अलर्कने कहा—भगवन्! इस शरीरके बड़े भाई यदि राज्य लेनेकी इच्छा रखते हैं तो यह शरीर तो पाँच भूतोंका समुदायमात्र है। गुणकी ही गुणोंमें प्रवृत्ति हो रही है; अतः मेरा उसमें क्या है, शरीरमें रहकर भी वे और मैं दोनों ही शरीरसे भिन्न हैं। यह हाथ आदि कोई भी अंग जिसका नहीं है; मांस, हड्डी और नाड़ियोंके विभागसे भी जिसका कोई सम्पर्क नहीं है, उस पुरुषका इस राज्य, हाथी, घोड़े, रथ और कोश आदिसे किंचित् भी क्या सम्बन्ध है! इसलिए न तो मेरा कोई शत्रु है, न मुझे दुःख या सुख होता है और न नगर तथा कोशसे ही मेरा कोई सम्बन्ध है। यह हाथी-घोड़े आदिकी सेना न सुबाहुकी है, न दूसरे किसीकी है और न मेरी ही है। जैसे कलसी, घट और कमण्डलुमें एक ही आकाश है तो भी पात्रभेदसे अनेक-सा दिखायी देता है; उसी प्रकार सुबाहु, काशिराज और मैं भिन्न-भिन्न शरीरोंमें रहकर भी एक ही हैं। शरीरोंके भेदसे ही भेदकी प्रतीति होती है। पुरुषकी बुद्धि जिस-जिस वस्तुमें आसक्त होती है, वहाँ-वहाँसे वह दुःख ही लाकर देती है। मैं तो प्रकृतिसे परे हूँ; अतः न दुखी हूँ, न सुखी। प्राणियोंका भूतोंके द्वारा जो पराभव होता है, वही दुःखमय है। तात्पर्य यह कि जो भौतिक भोगोंमें ममताके कारण आसक्त है, वही सुख-दुःखका अनुभव करता है।

अलर्ककी बात सुनकर दत्तात्रेयजीने कहा—नरश्रेष्ठ! वास्तवमें ऐसी ही बात है। तुमने जो कुछ कहा है, ठीक है; ममता ही दुःखका और ममताका अभाव ही सुखका कारण है। मेरे प्रश्न करनेमात्रसे तुम्हें यह उत्तम ज्ञान प्राप्त हो गया, जिसने ममताकी प्रतीतिको सेमरकी रूईकी भाँति उड़ा दिया।

इसके बाद अत्रिनन्दन भगवान् दत्तात्रेयने अलर्कको योगचर्या, योगके विघ्न तथा उनसे बचनेके उपाय, सात धारणा, आठ ऐश्वर्य, योगीकी मुक्ति, प्रणवकी महिमा, योगसाधनामें आनेवाले अरिष्ट तथा उनसे सावधानी आदि विविध विषयोंका उपदेश किया।

तदनन्तर राजा अलर्कने अत्रिनन्दन दत्तात्रेयजीके चरणोंमें प्रणाम करके अत्यन्त प्रसन्नताके साथ विनीत भावसे कहा—ब्रह्मन्! सौभाग्यवश आपके संगसे मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ और सौभाग्यसे ही आपने मुझपर कृपा की। भगवन्! भाई सुबाहु तथा काशिराज दोनों ही मेरे उपकारी हैं, जिनके कारण मुझे आपके समीप आनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपके प्रसादरूपी अग्निसे मेरा अज्ञान और पाप जल गया। अब मैं ऐसा यत्न करूँगा, जिससे फिर इस प्रकारके दुःखका भागी न बनूँ। आप मेरे ज्ञानदाता महात्मा हैं; अतः आपसे आज्ञा लेकर मैं गार्हस्थ्य-आश्रमका परित्याग करूँगा, जो विपत्तिरूपी वृक्षोंका वन है।

इसके बाद राजा अलर्क उन्हें प्रणाम करके उस स्थानपर आये, जहाँ काशिराज और सुबाहु बैठे थे।

उन लोगोंके निकट पहुँचकर अलर्कने हँसते हुए कहा—'राज्यकी इच्छा रखनेवाले काशिराज! अब आप इस राज्यको भोगें अथवा आपकी इच्छा हो तो भाई सुबाहुको दे दें।' अलर्ककी यह बात सुनकर काशिराजने कहा—'अलर्क! तुम क्षत्रिय धर्मके ज्ञाता हो, फिर बिना युद्ध किये राज्य क्यों छोड़ रहे हो?'

अलर्कने कहा—नरेश्वर! तुम्हारे भयसे अत्यन्त दुःख पाकर मैंने योगीश्वर दत्तात्रेयजीकी शरण ली और उनकी कृपासे अब मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है। समस्त इन्द्रियोंको जीतकर तथा सब ओरसे आसक्ति हटाकर मनको ब्रह्ममें लगाना और इस प्रकार मनको जीतना ही सबसे बड़ी विजय है; अतः अब मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ, तुम भी मेरे शत्रु नहीं हो तथा ये सुबाहु भी मेरे अपकारी नहीं है। मैंने इन सब बातोंको अच्छी तरह समझ लिया है।

अलर्कके यों कहनेपर राजा सुबाहु अत्यन्त प्रसन्न होकर उठे और 'धन्य! धन्य!' कहकर अपने भाईका अभिनन्दन करनेके पश्चात् वे काशिराजसे इस प्रकार बोले—'नृपश्रेष्ठ! मैं जिस कार्यके लिये तुम्हारी शरणमें आया था, वह सब पूरा हो गया। अब मैं जाता हूँ।'

काशिराजने आश्चर्यचकित होते हुए कहा—सुबाहो! तुम किसलिये आये थे? तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध हो गया? मुझे तुम्हारी बातोंसे बड़ा कौतूहल हो रहा है।

सुबाहुने कहा—'काशिराज! मेरा यह छोटा भाई तत्त्वज्ञ होकर भी सांसारिक भोगोंमें फँसा हुआ था। मेरे दो बड़े भाई परम ज्ञानी हैं। उन दोनोंको तथा मुझे हमारी माताने बचपनमें ही तत्त्वज्ञान दिया था, किंतु यह अलर्क उस ज्ञानसे वंचित रह गया। इस अलर्कको गृहस्थ-आश्रमके मोहमें फँसकर कष्ट उठाते हुए देखकर हम तीनों भाइयोंको कष्ट होता था। तब मैंने सोचा, दुःख पड़नेपर ही इसके मनमें वैराग्यकी भावना जाग्रत् होगी; अतः युद्धोद्योगके लिये आपका आश्रय लिया। राजन्! आपके संगसे मैंने यह बहुत बड़ा कार्य सिद्ध कर लिया। तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं जाऊँगा।'

काशीनरेशसे यों कहकर परम बुद्धिमान् सुबाहु चले गये। काशिराजने भी अलर्कका सत्कार करके अपने नगरकी राह ली। अलर्कने अपने ज्येष्ठ पुत्रका राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं सब प्रकारकी आसक्तियोंका त्याग करके आत्मसिद्धिके लिये वनमें चले गये। वहाँ बहुत समयतक वे निर्द्वन्द्व एवं परिग्रहशून्य होकर रहे और अनुपम योगसम्पत्तिको पाकर परम निर्वाणपदको प्राप्त हुए।

महाराज अलर्कसे सम्बद्ध कथाका सार श्रीप्रियादासजीने निम्न कवित्तमें इस प्रकार निरूपित किया है—

अलरक कीरति में राँचौं नित सांचो हिये किये उपदेश हू न छूटै विषै वासना।
माता मन्दालसा की बड़ी यह प्रतिज्ञा सुनौ आवै जो उदर मांझ फेरि गर्भ आसना॥
पतिको निहोरो ताते रह्यो छोटो कोरो ताको लै गये निकासि मिलि काशी नृप शासना।
मुद्रिका उघारि और निहारि दत्तात्रेयजूको भये भवपार करी प्रभु की उपासना॥ ९३॥

भगवान्‌की मायाको जीत लेनेवाले भक्त

रिभु इक्ष्वाकु रु ऐल गाधि रघु (रै) गै सतधन्वा।
अमुरत रंति उतंक भूरि देवल (बैबस्वत) मन्वा॥
नहुष जजाति दिलीप पूरु जदु गुह मांधाता।
पिप्पल निमि भरद्वाज दच्छ सरभंग सँघाता॥

संजय समीक उत्तानपद जाग्यबल्क जस जग भरे।
तिन चरन धूरि मो भूरि सिर जे जे हरिमाया तरे॥ १२॥

जो भक्त भगवान्‌की अपार मायासे तर गये, उसके जालमें नहीं फँसे, उनके श्रीचरणोंकी बहुत-सी रज सादर मेरे सिरपर है और सदा रहे। ऋभुजी, इक्ष्वाकुजी, ऐलजी, गाधिजी, रघुजी, रयजी, गयजी, शतधन्वाजी, अमूर्तजी, रन्तिदेवजी, उत्तंकजी, भूरिश्रवाजी, देवलजी, वैवस्वतमनुजी, नहुषजी, ययातिजी, दिलीपजी, पूरुजी, यदुजी, गुहजी, मान्धाताजी, पिप्पलजी, निमिजी, भरद्वाजजी, दक्षजी, शरभंगजी, संजयजी, शमीकजी, उत्तानपादजी और याज्ञवल्क्यजी—इनके सुयश संसारमें भरे हुए हैं। ये भगवद्भक्तिके प्रतापसे मायाको जीतनेवाले हैं॥ १२॥

यहाँ इन भक्तोंका पावन चरित संक्षेपमें प्रस्तुत किया जा रहा है—

महर्षि ऋभु

महर्षि ऋभु ब्रह्माके मानस पुत्रोंमेंसे एक हैं। ये स्वभावसे ही ब्रह्मतत्त्वज्ञ तथा निवृत्तिपरायण भक्त हैं। तथापि सद्गुरु-मर्यादाकी रक्षाके लिये इन्होंने श्रद्धाभक्तिसे युक्त होकर अपने बड़े भाई सनत्सुजातकी शरण ली थी। उनसे सम्प्रदायगत मन्त्र, योग और ज्ञान प्राप्त करके ये सर्वदा सहज स्थितिमें ही रहने लगे। मल, विक्षेप तथा आवरणसे रहित होकर ये जहाँ-कहीं भी पड़े रहते। शरीरके अतिरिक्त इनकी कोई कुटी नहीं थी।

यों ही विचरते हुए महर्षि ऋभु एक दिन पुलस्त्य ऋषिके आश्रमके समीप जा पहुँचे। वहाँ पुलस्त्यका पुत्र निदाघ वेदाध्ययन कर रहा था। निदाघने आगे आकर नमस्कार किया। उसके अधिकारको देखकर महर्षि ऋभुको बड़ी दया आयी। उन्होंने कहा—'इस जीवनका वास्तविक लाभ आत्मज्ञान प्राप्त करना है। यदि वेदोंको सम्पूर्णतः रट जाय और वस्तुतत्त्वका ज्ञान न हो तो वह किस कामका है? निदाघ! तुम आत्मज्ञानका सम्पादन करो।'

महर्षि ऋभुकी बात सुनकर उसकी जिज्ञासा जग गयी। उसने इन्हींकी शरण ली। अपने पिताका आश्रम छोड़कर वह उनके साथ भ्रमण करने लगा। उसकी सेवामें तन्मयता और त्याग देखकर महर्षिने उसे तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। उपदेशके पश्चात् आज्ञा की कि 'निदाघ! जाकर गृहस्थ-धर्मका अवलम्बन लो। मेरी आज्ञाका पालन करो।'

गुरुदेवकी आज्ञा पाकर निदाघ अपने पिताके पास आया। उन्होंने उसका विवाह कर दिया। इसके पश्चात् देविका नदीके तटपर वीरनगरके पास एक उपवनमें निदाघने अपना आश्रम बनाया और वहाँ वह अपनी पत्नीके साथ गार्हस्थ्यका पालन करने लगा। कर्मपरायण हो गया।

बहुत दिनोंके बाद ऋभुको उसकी याद आयी। अपने अंगीकृत जनका कल्याण करनेके लिये वे वहाँ पहुँच गये। महापुरुष जिसे एक बार स्वीकार कर लेते हैं, उसे फिर कभी नहीं छोड़ते। वे बलिवैश्वदेवके समय निदाघके द्वारपर उपस्थित हुए। निदाघने उन्हें न पहचाननेपर भी गृहस्थ-धर्मानुसार अतिथिको भगवद्रूप समझकर उनकी रुचिके अनुसार भोजन कराया। अन्तमें उसने प्रश्न किया कि 'महाराज! भोजनसे तृप्त हो गये क्या? आप कहाँ रहते हैं? कहाँसे आ रहे हैं? और किधर पधारनेकी इच्छा है?' महर्षि ऋभुने अपने कृपालु स्वभावके कारण उपदेश करते हुए उत्तर दिया—'ब्राह्मण! भूख और प्यास प्राणोंको ही लगती है। मैं प्राण नहीं हूँ। जब भूख-प्यास मुझे लगती ही नहीं, तब तृप्ति-अतृप्ति क्या बताऊँ? स्वस्थता और तृप्ति मनके ही धर्म हैं। आत्मा इनसे सर्वथा पृथक् है। रहने और आने-जानेके सम्बन्धमें जो पूछा, उसका उत्तर

सुनो। आत्मा आकाशकी भाँति सर्वगत है। उसका आना-जाना नहीं बनता। मैं न आता हूँ, न जाता हूँ और न किसी एक स्थानपर रहता ही हूँ। तृप्ति-अतृप्तिके हेतु ये सब रस आदि विषय परिवर्तनशील हैं। कभी अतृप्तिकर पदार्थ तृप्तिकर हो जाते हैं और कभी तृप्तिकर अतृप्तिकर हो जाते हैं। अत: विषमस्वभाव पदार्थोंपर आस्था मत करो; इनकी ओरसे दृष्टि मोड़कर त्रिगुण, व्यवस्था और समस्त अनात्म वस्तुओंसे ऊपर उठकर अपने-आपमें स्थिर हो जाओ। ये सब संसारी लोग मायाके चक्करमें पड़कर अपने स्वरूपको भूले हुए हैं। तुम इस मायापर विजय प्राप्त करो।' महर्षि ऋभुके इन अमृतमय वचनोंको सुनकर निदाघ उनके चरणोंपर गिर पड़े। फिर उन्होंने बतलाया कि 'मैं तुम्हारा गुरु ऋभु हूँ।' निदाघको बड़ी प्रसन्नता हुई, महर्षि चले गये।

बहुत दिनोंके पश्चात् फिर महर्षि ऋभु वहाँ पधारे। संयोगवश उस दिन वीरपुरनरेशकी सवारी निकल रही थी। सड़कपर बड़ी भीड़ थी। निदाघ एक ओर खड़े होकर भीड़ हट जानेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। इतनेमें ही महर्षिने इनके पास आकर पूछा—'यह भीड़ कैसी है?'

निदाघने उत्तर दिया—'राजाकी सवारी निकलनेके कारण भीड़ है।' उन्होंने पूछा—'तुम तो जानकार जान पड़ते हो। मुझे बताओ इनमें कौन राजा है और कौन दूसरे लोग हैं?' निदाघने कहा—'जो इस पर्वतके समान ऊँचे हाथीपर सवार हैं, वे राजा हैं। उनके अतिरिक्त दूसरे लोग हैं।' ऋभुने पूछा—'महाराज! मुझे हाथी और राजाका ऐसा लक्षण बताओ कि मैं समझ सकूँ कि ऊपर क्या है? नीचे क्या है?' यह प्रश्न सुनकर निदाघ झपटकर उनपर सवार हो गये और कहा—'देखो, मैं राजाकी भाँति ऊपर हूँ। तुम हाथीके समान नीचे हो। अब समझ जाओ राजा और हाथी कौन हैं।' महर्षि ऋभुने बड़ी शान्तिसे कहा—'यदि तुम राजा और मैं हाथीकी भाँति स्थित हूँ तो बताओ तुम कौन हो और मैं कौन हूँ?' यह बात सुनते ही निदाघ उनके चरणोंपर गिर पड़े, वह हाथ जोड़कर कहने लगे—'प्रभो! आप अवश्य ही मेरे गुरुदेव ऋभु हैं। आपके समान अद्वैतसंस्कार-संस्कृतचित्त और किसीका नहीं है। आप अवश्य-अवश्य मेरे गुरुदेव हैं, मैंने अनजानमें बड़ा अपराध किया। संत स्वभावत: क्षमाशील होते हैं। आप कृपया मुझे क्षमा करें।' ऋभुने हँसते हुए कहा—

'कौन किसका अपराध करता है? यदि एक वृक्षकी दो शाखाएँ परस्पर रगड़ खायँ तो उनमें किसका अपराध है? मैंने तुम्हें पहले व्यतिरेक मार्गसे आत्माका उपदेश किया था। उसे तुम भूल गये। अब अन्वय-मार्गसे किया है। इसपर परिनिष्ठित हो जाओ। यदि इन दोनों मार्गोंपर विचार करोगे तो संसारमें रहकर भी तुम इससे अलिप्त रहोगे।' निदाघने उनकी बड़ी स्तुति की। वे स्वच्छन्दतया चले गये।

ऋभुकी इस क्षमाशीलताको सुनकर सनकादि गुरुओंको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने ब्रह्माके सामने इनकी महिमा गायी और इनका नाम क्षमाका एक अक्षर लेकर ऋभुक्ष रख दिया। तबसे साम्प्रदायिक लोग इन्हें ऋभुक्षानन्दके नामसे स्मरण करते हैं। इनकी कृपासे निदाघ आत्मनिष्ठ हो गये।

श्रीइक्ष्वाकुजी

परम पुरुष परमात्माने जब सृष्टिकी इच्छा की तो सर्वप्रथम उनकी नाभिसे एक सुवर्णमय कमलकोश प्रकट हुआ, उसीमें चतुर्मुख ब्रह्माजीका आविर्भाव हुआ। ब्रह्माजीके मनसे मरीचि और मरीचिके पुत्र कश्यप हुए। उनकी पत्नी अदितिसे विवस्वान् (सूर्य)-का जन्म हुआ। विवस्वान्‌की संज्ञा नामक पत्नीसे श्राद्धदेव मनुका जन्म हुआ। परम मनस्वी राजा श्राद्धदेव मनुने अपनी पत्नी श्रद्धाके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें सबसे ज्येष्ठ इक्ष्वाकुजी थे। कहीं-कहीं मनुजीकी नासिकासे इक्ष्वाकुका प्रादुर्भाव होना पाया जाता

है। यथा—**क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतः सुतः॥** (भा०)

श्रीइक्ष्वाकुजी अयोध्याके प्रथम राजा हुए यथा—**तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम्॥** (वाल्मीकीय रामायण) महाराजा इक्ष्वाकुजी बड़े ही प्रजावत्सल राजा हुए। श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि श्रीपरीक्षित्‌जीकी जन्म-कुण्डलीका वर्णन करते हुए ज्योतिषियोंने सर्वप्रथम यही कहा है कि—**पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः॥** (भा०) अर्थात् धर्मराज! यह बालक मनुपुत्र इक्ष्वाकुके समान अपनी प्रजाका पालन करेगा। महाभारतके युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णने गीता-ज्ञानका अनादित्व वर्णन करते हुए श्रीइक्ष्वाकुजीका स्मरण किया है। यथा—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

अर्थात् श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी ज्ञानयोगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा। इस प्रकार श्रीइक्ष्वाकुजी महाराज गीताज्ञानके आचार्य सिद्ध होते हैं।

रीवांनरेश महाराज श्रीरघुराजसिंहजीने स्वरचित श्रीरामरसिकावली भक्तमालमें श्रीइक्ष्वाकुजीकी लीलाभिनय-निष्ठाका एक सरस प्रसंग वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि—

जबते महिपाल इक्ष्वाकु भये हरि लीला रचें शिशुसंगन में।
सतिभाव विलोकि कै तासु हरी कह्यो मांगु रँगे रति रङ्गन में॥
रघुराज कह्यो जस खेलत हैं तुमहू तस खेलो उमङ्गन में।
मुसकाइ कह्यो हरि तेरेइ वंश में खेलिहौं औध के अङ्गन में॥

इसी वरदानके फलस्वरूप स्वयं भगवान् श्रीरामने इसी वंशमें अवतार ग्रहण किया था। यथा—**इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः॥**

एक बार महाराज इक्ष्वाकु तीर्थयात्रा करते हुए श्रीजापकमुनिके आश्रमपर पहुँचे। मुनिने राजाको अर्घ्य, पाद्य और आसन देकर कुशल-मंगल पूछनेके बाद इस प्रकार कहा—महाराज! आपका स्वागत है। मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपकी क्या सेवा करूँ? यह आप मुझे बतायें। राजाने कहा—विप्रवर! मैं क्षत्रिय राजा हूँ और आप स्वधर्ममें स्थित ब्राह्मण हैं, अतः मैं आपको कुछ धन देना चाहता हूँ। ब्राह्मणने कहा—नरेश्वर! आप उन ब्राह्मणोंको दान करें, जो प्रवृत्तिमार्गमें हों। मैं तो प्रतिग्रहसे निवृत्त ब्राह्मण हूँ। अतः आपसे दान नहीं ले सकता। हाँ, आपको जो अभीष्ट हो, वह कहें; मैं अपने तपोबलसे पूर्ण कर दूँगा। इक्ष्वाकुजी बोले—क्षत्रियोंको याचनाका अभ्यास नहीं होता। यदि कभी ऐसा प्रसंग प्राप्त होता है तो हम लोग तो यही कहना जानते हैं कि 'युद्ध दो।' ब्राह्मणने कहा—नरेश्वर! जैसे आप अपने धर्मसे सन्तुष्ट हैं, उसी तरह हम भी अपने धर्मसे सन्तुष्ट हैं। हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है, अतः आपको जो अच्छा लगे, वही कीजिये। महाराज इक्ष्वाकुने इन उदारचेता ब्राह्मण मुनिसे इनके समस्त जप-साधनका फल माँगा। मुनिने सहर्ष संकल्प कर दिया। तत्पश्चात् राजा इक्ष्वाकुने अपने समस्त पुण्योंका फल जापक मुनिको समर्पित कर दिया और कहा—हमारा और आपका सारा पुण्य हम दोनोंके लिये समान हो और हम साथ-साथ उसका उपभोग करें। जापक मुनिने इनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। फिर तो वे दोनों एक-दूसरेका उपकार करते हुए एक साथ हो गये। वे एक ही साथ मनको विषयोंकी ओरसे हटाकर मनसहित प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—इन पाँचों प्राणवायुओंको सुषुम्णामार्गद्वारा मूर्धामें स्थापित करके समाधिमें स्थित हो गये। तत्पश्चात् दोनों

ही ब्रह्मरन्ध्रका भेदन करके दिव्यरूप धारण करके ब्रह्मलोकको गये और सभी देवताओंके देखते-देखते श्रीब्रह्माजीके मुखारविन्दमें प्रविष्ट हो गये।

श्रीऐलजी (पुरूरवा)

वैवस्वत मनुके पुत्र न था। उस समय सर्वसमर्थ भगवान् वसिष्ठजीने इन्हें संतानप्राप्ति करानेके लिये मित्रावरुणदेवका यज्ञ कराया। मनु-पत्नी श्रद्धा, जिसने यज्ञकी दीक्षा ली थी, उसने होताके पास जाकर प्रणामपूर्वक कन्याके लिये प्रार्थना की। फलतः होताने आहुति छोड़ते समय एकाग्रचित्त हो कन्याका संकल्प करके आहुति छोड़ी। होताके इस व्यतिक्रमसे मनुके पुत्रके स्थानपर इला नामकी कन्या पैदा हुई। उसे देखकर मनुजी प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने अपने गुरु वसिष्ठजीसे पूछा कि यह विपरीत फल कैसे हुआ ? तब वसिष्ठजीने ध्यान करके देखा तो सब बात विदित हो गयी। तत्पश्चात् राजासे समस्त वृत्तान्त कहकर वे बोले कि अब हम अपने ब्रह्मतेजसे आपकी कामना पूर्ण करेंगे। ऐसा निश्चय करके ब्रह्मर्षि वसिष्ठजीने उस इला नामकी कन्याको ही पुरुष बना देनेके लिये पुरुषोत्तम भगवान् नारायणकी स्तुति की, सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिने सन्तुष्ट होकर इन्हें मुँहमाँगा वर दिया, जिसके प्रभावसे वह कन्या ही सुद्युम्न नामक श्रेष्ठ पुत्र बन गयी।

एक बार शिकार खेलते हुए ससमाज राजा सुद्युम्न सुमेरु पर्वतकी तलहटीके एक गिरिजाशंकर-विहार वनमें पहुँच गये। वहाँ प्रवेश करते ही (शिवजीके पूर्वशापवश कि इस वनमें जो आयेगा, वह स्त्री हो जायगा) सब स्त्री हो गये। इसलिये वे पुनः इला नामकी कन्या बने हुए अपने अनुचरोंके साथ एक वनसे दूसरे वनमें विचरने लगे। उसी समय चन्द्रमा-पुत्र बुध, जो समीपके ही एक वनमें तपस्या कर रहे थे, स्त्रीरूपधारी सुद्युम्नको देखकर मोहित हो गये और इधर इन्होंने भी कामोपम चन्द्रकुमार बुधको पति बनाना चाहा। फिर तो दोनोंमें परस्पर प्रेम हो गया। परिणामस्वरूप बुधने उनसे पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न किया। कुछ काल बाद सुद्युम्नने श्रीसद्गुरुदेव वसिष्ठजीका स्मरण किया। वे आये और राजकुमारकी दशा देखकर उन्हें दया आ गयी। उन्होंने सुद्युम्नको पुनः पुरुष बना देनेके लिये भगवान् शंकरकी आराधना की। श्रीशिवजीने अपना शाप और वसिष्ठजीकी विनय—दोनोंकी रक्षा करते हुए यह वर दिया कि यह एक महीनेतक पुरुष एवं एक महीनेतक स्त्री रहेंगे। बुध-पुत्र पुरूरवा ही इलाके गर्भसे उत्पन्न होनेसे ऐल कहे गये।

स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी एक दिन इन्द्रकी सभामें देवर्षि नारदजीके मुखसे पुरूरवाके रूप, गुण, शील-स्वभाव, शौर्य-वीर्य, बल-पराक्रमको सुनकर मोहित होकर स्वर्गसे पुरूरवाके पास चली आयी। उर्वशीको मर्त्यलोकमें जानेका मित्रावरुणका शाप भी था। अतः उसने पुरूरवाके साथ विहार करते हुए शापकी अवधि बितानेका निश्चय किया। इधर देवांगना उर्वशीको देखकर राजा पुरूरवा भी धैर्य खो बैठे। परिणामस्वरूप दोनोंमें स्नेह-सम्बन्ध हो गया। शापकी अवधिपर्यन्त पुरूरवाके साथ विहार करती हुई उर्वशी अवधि बीतनेपर बिना किसी शील-संकोचके इन्हें छोड़कर स्वर्ग चली गयी। उसके चले जानेपर पहले तो परम यशस्वी सम्राट् पुरूरवा विरहसे अत्यन्त व्याकुल हो गये। परंतु पीछे शोक हट जानेपर उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ और तब उनके हृदयसे जो उद्गार निकला है, वह परमार्थ-पथके पथिकोंके लिये बड़े ही महत्त्वका है। यथा—अपने वास्तविक कल्याणको समझनेवाले विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह स्त्रियों एवं स्त्रीलम्पट पुरुषोंका संग न करे। विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे ही मनमें विकार होता है, अन्यथा विकारका कोई अवसर ही नहीं है। जो वस्तु कभी देखी या सुनी नहीं गयी है, उसके लिये मनमें विकार नहीं होता। जो लोग विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग नहीं होने देते, उनका मन अपने-आप निश्चल होकर शान्त हो जाता है; अतः मन, वाणी और श्रवण आदि इन्द्रियोंसे स्त्रियों और स्त्रीलम्पटोंका संग कभी नहीं करना चाहिये।

मुझ-जैसे सांसारिक लोगोंकी तो बात ही क्या, बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी अपनी इन्द्रियाँ और मन विश्वसनीय नहीं हैं।

राजराजेश्वर पुरूरवाके मनमें जब इस प्रकार उद्गार उठने लगे, तब उन्होंने उर्वशीका मनसे परित्याग कर दिया। अब ज्ञानोदय होनेसे उनके मनका मोह जाता रहा और उन्होंने अपने हृदयसे ही आत्मस्वरूपसे श्रीकृष्णका साक्षात्कार कर लिया और भावमें स्थित हो गये। महाभारत अनुशासनपर्वमें इनका प्रातः स्मरणीय राजर्षियोंके रूपमें स्मरण किया गया है।

श्रीगाधिजी

श्रीब्रह्माजीके पुत्र थे राजर्षि कुश, कुशके पुत्र कुशनाभ हुए। राजा कुशनाभके कोई पुत्र नहीं था, अतः श्रेष्ठ पुत्रकी प्राप्तिके लिये इन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञका अनुष्ठान किया। उस यज्ञके अनुष्ठानकालमें परम उदार ब्रह्मकुमार महाराज कुशने इनकी देवता, पितरोंके प्रति अगाध श्रद्धा देखकर ब्रह्मलोकसे आकर आश्वासन दिया—बेटा कुशनाभ! तुम्हें अपने समान ही परम धर्मात्मा 'गाधि' नामक पुत्र प्राप्त होगा और उसके द्वारा तुम्हें संसारमें अक्षय कीर्ति उपलब्ध होगी। पृथ्वीपति कुशनाभसे ऐसा कहकर राजर्षि कुश आकाशमें प्रविष्ट हो सनातन ब्रह्मलोकको चले गये। कुछ कालके पश्चात् बुद्धिमान् राजा कुशनाभके यहाँ परम धर्मज्ञ 'गाधि' नामक पुत्र हुआ। (वा० रा०) ये कान्यकुब्ज देशके राजा थे। महाराज गाधि दीर्घकालतक पुत्रहीन रह गये, तब संतानकी इच्छासे पुण्यकर्म करनेके लिये ये वनमें रहने लगे। वहाँ रहते समय सोमयाग करनेसे राजाके एक कन्या हुई। जिसका नाम सत्यवती था। भूतलपर कहीं भी उसके रूप और सौन्दर्यकी तुलना नहीं थी। परमतपमें संलग्न महर्षि ऋचीकने राजा गाधिसे उस कन्याको माँगा। ऋषिकी सामर्थ्यसे सुपरिचित राजा गाधिने यज्ञार्थ शुल्करूपमें एक सहस्र ऐसे घोड़े माँगे, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् और वायुके समान वेगवान् हों तथा जिनका एक-एक कान श्याम रंगका हो। महर्षि ऋचीकने वरुणदेवतासे एक सहस्र अश्व लेकर राजा गाधिको दे दिये। तब राजा गाधिने अपनी कन्याको वस्त्राभूषणोंसे विभूषितकर भृगुनन्दन ऋचीकको दे दिया। इन्हीं महर्षि ऋचीककी कृपासे राजा गाधिके श्रीविश्वामित्रजी-सरीखे पुत्ररत्न हुए।

राजा गाधि महान् योगी और बड़े भारी तपस्वी थे। वे प्रजाका पुत्रवत् पालन करते थे और प्रजा भी इन्हें साक्षात् भगवद्-रूप समझती थी। इन्होंने अपने राज्यकालमें विविध यज्ञोंद्वारा यज्ञपुरुष भगवान्की आराधना की थी। इनका सम्पूर्ण जीवन साधनामय था। जब इन्होंने अपने पुत्र विश्वामित्रको राज्यपर अभिषिक्त करके शरीरको त्याग देनेका विचार किया, तब सारी प्रजा इनसे नत-मस्तक होकर बोली—प्रभो! आप कहीं न जायँ, यहीं रहकर हमारी इस जगत्के महान् भयसे रक्षा करते रहें। राजा गाधिने श्रीविश्वामित्रके सद्गुणोंकी प्रशंसा करके प्रजाको आश्वस्त किया और मंगल-मुहूर्तमें विश्वामित्रजीको राजसिंहासनपर बैठाकर स्वयं प्राणायामके द्वारा प्राणोंका उत्क्रमणकर भगवद्धामको चले गये।

महाराज रघु

सूर्यवंशमें जैसे इक्ष्वाकु, अजमीढ आदि राजा बहुत प्रसिद्ध हुए हैं, उसी प्रकार महाराज रघु भी बड़े प्रसिद्ध, पराक्रमी, धर्मात्मा, भगवद्भक्त और पवित्रजीवन हो गये हैं। इन्हींके नामसे 'रघुवंश' प्रसिद्ध हुआ। इसीलिये सच्चिदानन्दघन परमात्मा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके रघुवर, राघव, रघुपति, रघुवंशविभूषण, रघुनाथ आदि नाम हुए। ये बड़े धर्मात्मा थे। इन्होंने अपने पराक्रमसे समस्त पृथ्वीको अपने अधीन कर लिया था। चारों दिशाओंमें दिग्विजय करके ये समस्त भूमिखण्डके एकच्छत्र सम्राट् हुए। ये प्रजाको बिलकुल कष्ट

नहीं देना चाहते थे, 'राज्यकर' भी ये बहुत ही कम लेते थे और विजित राजाओंको भी केवल अधीन बनाकर छोड़ देते थे, उनसे किसी प्रकारका कर वसूल नहीं करते थे।

एक बार ये दरबारमें बैठे थे कि इनके पास कौत्स नामके एक स्नातक ऋषिकुमार आये। अपने यहाँ स्नातकको देखकर महाराजने उनका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया। पाद्य-अर्घ्यसे उनकी पूजा की। ऋषिकुमारने विधिवत् उनकी पूजा ग्रहण की और कुशल-प्रश्न पूछा। थोड़ी देरके अनन्तर ऋषिकुमार चलने लगे, तब महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! आप कैसे पधारे और बिना कुछ अपना अभिप्राय बताये आप लौटे क्यों जा रहे हैं?'

ऋषिकुमारने कहा—'राजन्! मैंने आपके दानकी ख्याति सुनी है, आप अद्वितीय दानी हैं। मैं एक प्रयोजनसे आपके पास आया था; किंतु मैंने सुना है कि आपने यज्ञमें अपना समस्त वैभव दान कर दिया है। यहाँ आकर मैंने प्रत्यक्ष देखा कि आपके पास अर्घ्य देनेके लिये भी कोई धातुका पात्र नहीं है और आपने मुझे मिट्टीके पात्रसे अर्घ्य दिया है, अतः अब मैं आपसे कुछ नहीं कहता।'

राजाने कहा—'नहीं, ब्रह्मन्! आप मुझे अपना अभिप्राय बताइये; मैं यथासाध्य उसे पूरा करनेकी चेष्टा करूँगा।'

स्नातकने कहा—'राजन्! मैंने अपने गुरुके यहाँ रहकर सांगोपांग वेदोंका अध्ययन किया। अध्ययनके अनन्तर मैंने गुरुजीसे गुरुदक्षिणाके लिये प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'हम तुम्हारी सेवासे ही सन्तुष्ट हैं, मुझे और कुछ भी दक्षिणा नहीं चाहिये।' गुरुजीके यों कहनेपर भी मैं बार-बार उनसे गुरुदक्षिणाके लिये आग्रह करता ही रहा। तब अन्तमें उन्होंने झल्लाकर कहा—'अच्छा तो चौदह लाख सुवर्णमुद्रा लाकर हमें दो।' मैं इसीलिये आपके पास आया था।'

महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! मेरे हाथोंमें धनुष-बाणके रहते हुए कोई विद्वान् ब्रह्मचारी ब्राह्मण मेरे यहाँसे विमुख जाय तो मेरे राज-पाट, धन-वैभवको धिक्कार है। आप बैठिये, मैं कुबेर-लोकपर चढ़ाई करके उनके यहाँसे धन लाकर आपको दूँगा।'

महाराजने सेनाको सुसज्जित होनेकी आज्ञा दी। बात-की-बातमें सेना सज गयी। निश्चय हुआ कि कल प्रस्थान होगा। प्रातःकाल कोषाध्यक्षने आकर महाराजसे निवेदन किया कि महाराज! रात्रिमें सुवर्णकी वृष्टि हुई और समस्त कोष सुवर्णमुद्राओंसे भर गया है। महाराजने जाकर देखा कि सर्वत्र सुवर्णमुद्राएँ भरी हैं। वहाँ जितनी सुवर्णमुद्राएँ थीं, उन सबको महाराजने ऊँटोंपर लदवाकर ऋषिकुमारके साथ भेजना चाहा। ऋषिकुमारने देखा, ये मुद्राएँ तो नियत संख्यासे बहुत अधिक हैं, तब उन्होंने राजासे कहा—'महाराज! मुझे तो केवल चौदह लाख ही चाहिये। इतनी मुद्राओंका मैं क्या करूँगा, मुझे तो केवल कामभरके लिये चाहिये।'

महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! ये सब आपके ही निमित्त आयी हैं, आप ही इन सबके अधिकारी हैं, आपको ये सब मुद्राएँ लेनी ही होंगी। आपके निमित्त आये हुए द्रव्यको भला, मैं कैसे रख सकता हूँ?'

ऋषिकुमारने बहुत मना किया, किंतु महाराज मानते ही नहीं थे, अन्तमें ऋषिको जितनी आवश्यकता थी, वे उतना ही द्रव्य लेकर अपने गुरुके यहाँ चले गये। शेष जो धन बचा, वह सब ब्राह्मणोंको लुटा दिया गया। ऐसा दाता पृथ्वीपर कौन होगा, जो इस प्रकार याचकोंके मनोरथ पूर्ण करे। अन्तमें महाराज अपने पुत्र अजको राज्य देकर तपस्या करने वनमें चले गये। अजके पुत्र महाराज दशरथ हुए, जिन्हें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीरामचन्द्रके पिता होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

श्रीरयजी

ये महाराज पुरूरवाके पुत्र थे। इनकी माता उर्वशी नामकी अप्सरा थी। इनके जय, विजय, आयु, श्रुतायु एवं सत्यायु—ये पाँच भाई और थे। रय अपने सब भाइयोंमें प्रतापी और ज्ञानी थे। इनको भगवान्‌की विशेष कृपा प्राप्त थी। श्रीरयजी परम भागवत थे और भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंमें मन लगाकर मायासे पार हो गये।

राजर्षि गय

राजर्षि गय महाराज भरतके वंशमें उत्पन्न हुए थे। इनके पिताका नाम नक्त और माताका नाम द्युति था। महाराज गयकी पत्नीका नाम गयन्ती था, जिससे उन्हें चित्ररथ, सुगति और अवरोधन नामक तीन पुत्र प्राप्त हुए। उदारकीर्ति राजर्षिप्रवर गय साक्षात् भगवान् विष्णुके अंश माने जाते थे। महाराज गय प्रजापालन, शासन और यज्ञानुष्ठानादि सभी कर्म निष्काम भावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ करते थे। वे सदा ब्रह्मवेत्ता महापुरुषोंकी चरण-सेवा किया करते थे। इन सबके फलस्वरूप उन्हें भक्तियोगकी प्राप्ति हुई।

वायुपुराणमें गया-माहात्म्यके सन्दर्भमें एक अन्य विष्णुभक्त असुर गयकी कथा आती है, जो इस प्रकार है—

गय अद्भुत असुर था। असुरवंशमें उत्पन्न होनेपर भी उसमें आसुर-भावका लेश भी नहीं था। स्वभावसे अत्यन्त शान्त और भगवान् नारायणका परम भक्त था वह। एक पैरपर खड़े होकर कई सहस्र वर्षपर्यन्त गय निर्जल, निराहार, स्थिर रहकर भगवान् नारायणका ध्यान करता रहा। उसके तेजसे सभी देवता, सूर्य, चन्द्र, अग्नि भी श्रीहत हो गये। भगवान् ब्रह्माको सृष्टि-रक्षाकी चिन्ता हुई।

'महाभाग! तुम तो मुझसे वरदान माँगते नहीं, आज मैं तुमसे याचना करने आया हूँ। मुझे यज्ञ करना है और तुम्हारे शरीर-जैसा पवित्र स्थल उस यज्ञके लिये त्रिभुवनमें नहीं है।'

'मेरे देहपर मेरे आराध्यको सन्तुष्ट करनेके लिये आप यज्ञ करेंगे, इससे अधिक सौभाग्य मेरा क्या होगा?' ब्रह्माजीकी बात पूरी होनेसे पहले ही गय भूमिपर लेट गया और बोला—'आप इसपर यज्ञ करें।'

कुण्ड-वेदिकादि सभी बने और सैकड़ों वर्ष यज्ञ चला, किंतु गयका एक रोम भी नहीं जला। वह श्वास रोके स्थिर पड़ा रहा। यज्ञको समाप्त करना ही था। गय फिर उठ खड़ा होगा—इस भयसे ब्रह्माजीने भगवान् नारायणका स्मरण किया। भगवान्‌ने उसके विभिन्न अंगोंपर देवताओंको स्थापित किया और उसके हृदयदेशपर स्वयं गदा लेकर खड़े हुए।

'मेरे शरीरपर कहीं कोई कैसा भी पिण्डदान करे, उसके पितरोंको अक्षय तृप्ति प्राप्त हो!' यह वरदान गयने भगवान्‌से माँगा। पूरा गयाक्षेत्र उसके देहपर ही स्थित है।

श्रीशतधन्वाजी

पूर्वकालमें पृथिवीतलपर शतधनु नामसे विख्यात एक राजा था। उसकी पत्नी शैव्या अत्यन्त धर्मपरायणा थी। वह महाभागा पतिव्रता, सत्य-शौच और दयासे युक्त तथा विनय और नीति आदि सम्पूर्ण सुलक्षणोंसे सम्पन्न थी। उस महारानीके साथ राजा शतधनुने परम-समाधिद्वारा सर्वव्यापक, देवदेव श्रीजनार्दनकी आराधना की। वे प्रतिदिन तन्मय होकर अनन्यभावसे होम, जप, दान, उपवास और पूजन आदिद्वारा भगवान्‌की भक्तिपूर्वक आराधना करने लगे। एक दिन कार्तिकी पूर्णिमाको उपवास कर उन दोनों पति-पत्नीने श्रीगंगाजीमें एक साथ ही स्नान करनेके अनन्तर बाहर आनेपर एक पाखण्डीको सामने आता देखा। यह ब्राह्मण उस महात्मा राजाके धनुर्वेदाचार्यका मित्र था; अतः आचार्यके गौरववश राजाने भी उससे मित्रवत् व्यवहार किया। किंतु उसकी पतिव्रता पत्नीने उसका कुछ भी आदर नहीं किया; वह मौन रही और यह

सोचकर कि मैं उपोषिता (उपवासयुक्त) हूँ, उसे देखकर सूर्यका दर्शन किया। फिर उन दोनोंने यथारीति आकर भगवान् विष्णुके पूजा आदिक सम्पूर्ण कर्म विधिपूर्वक किये।

कालान्तर में वह शत्रुजित् राजा मर गया। तब, देवी शैव्याने भी चितारूढ़ महाराजका अनुगमन किया।

राजा शतधनुने उपवास-अवस्थामें पाखण्डीसे वार्तालाप किया था। अतः उस पापके कारण उसने कुत्तेका जन्म लिया तथा उसकी शुभलक्षणा पत्नी शैव्या काशीनरेशकी कन्या हुई, जो सब प्रकारके विज्ञानसे युक्त, सर्वलक्षणसम्पन्ना और जातिस्मरा (पूर्वजन्मका वृत्तान्त जाननेवाली) थी। राजाने उसे किसी वरको देनेकी इच्छा की, किंतु उस सुन्दरीके ही रोक देनेपर वह उसके विवाहादिसे उपरत हो गये।

तब उसने दिव्य दृष्टिसे अपने पतिको श्वान हुआ जान विदिशा नामक नगरमें जाकर उसे वहाँ कुत्तेकी अवस्थामें देखा। अपने महाभाग पतिको श्वानरूपमें देखकर उस सुन्दरीने उसे सत्कारपूर्वक अति उत्तम भोजन कराया। उसके दिये हुए उस अति मधुर और इच्छित अन्नको खाकर वह अपनी जातिके अनुकूल नाना प्रकारकी चाटुता प्रदर्शित करने लगा। उसके चाटुता करनेसे अत्यन्त संकुचित हो उस बालिकाने कुत्सित योनिमें उत्पन्न हुए उस अपने प्रियतमको प्रणामकर उससे इस प्रकार कहा—'महाराज! आप अपनी उस उदारताका स्मरण कीजिये, जिसके कारण आज आप श्वान-योनिको प्राप्त होकर मेरे चाटुकार हुए हैं। हे प्रभो! क्या आपको यह स्मरण नहीं है कि तीर्थस्नानके अनन्तर पाखण्डीसे वार्तालाप करनेके कारण ही आपको यह कुत्सित योनि मिली है?'

काशिराजसुताद्वारा इस प्रकार स्मरण कराये जानेपर उसने बहुत देरतक अपने पूर्वजन्मका चिन्तन किया। तब उसे अति दुर्लभ निर्वेद प्राप्त हुआ। उसने अत्यन्त उदास चित्तसे नगरके बाहर आ प्राण त्याग दिये और फिर शृगाल-योनिमें जन्म लिया। तब, काशिराजकन्या दिव्य दृष्टिसे उसे दूसरे जन्ममें शृगाल हुआ जान उसे देखनेके लिये कोलाहल-पर्वतपर गयी। वहाँ भी अपने पतिको शृगाल-योनिमें उत्पन्न हुआ देख वह सुन्दरी राजकन्या उससे बोली—'हे राजेन्द्र! श्वान-योनिमें जन्म लेनेपर मैंने आपसे जो पाखण्डसे वार्तालापविषयक पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहा था, क्या वह आपको स्मरण है?' तब सत्यनिष्ठोंमें श्रेष्ठ राजा शतधनुने उसके इस प्रकार कहनेपर सारा सत्य वृत्तान्त जानकर निराहार रह वनमें अपना शरीर छोड़ दिया।

फिर वह एक भेड़िया हुआ; उस समय भी अनिन्दिता राजकन्याने निर्जन वनमें जाकर अपने पतिको उसके पूर्वजन्मका वृत्तान्त स्मरण कराया। [उसने कहा—] 'हे महाभाग! तुम भेड़िया नहीं हो, तुम राजा शतधनु हो। तुम [अपने पूर्वजन्मोंमें] क्रमशः कुक्कुर और शृगाल होकर अब भेड़िया हुए हो।' इस प्रकार उसके स्मरण करानेपर राजाने जब भेड़ियेके शरीरको छोड़ा तो गृध्र-योनिमें जन्म लिया। उस समय भी उसकी निष्पाप भार्याने उसे फिर बोध कराया—'हे नरेन्द्र! तुम अपने स्वरूपका स्मरण करो; इन गृध्र चेष्टाओंको छोड़ो। पाखण्डीके साथ वार्तालाप करनेके दोषसे ही तुम गृध्र हुए हो।'

फिर दूसरे जन्ममें काक-योनिको प्राप्त होनेपर भी अपने पतिको योगबलसे पाकर उस सुन्दरीने कहा— 'प्रभो! जिनके वशीभूत होकर सम्पूर्ण सामन्तगण नाना प्रकारकी वस्तुएँ भेंट करते थे, वही आप आज काक-योनिको प्राप्त होकर बलिभोजी हुए हैं।' इसी प्रकार काक-योनिमें भी पूर्वजन्मका स्मरण कराये जानेपर राजाने अपने प्राण छोड़ दिये और फिर मयूर-योनिमें जन्म लिया।

मयूरावस्थामें भी काशिराजकी कन्या उसे क्षण-क्षणमें अति सुन्दर मयूरोचित आहार देती हुई उसकी टहल करने लगी। उस समय राजा जनकने अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान किया; उस यज्ञमें अवभृथ-स्नानके समय उस मयूरको स्नान कराया। तब उस सुन्दरीने स्वयं भी स्नानकर राजाको यह स्मरण कराया

कि किस प्रकार उसने श्वान और शृगाल आदि योनियाँ ग्रहण की थीं। अपनी जन्म-परम्पराका स्मरण होनेपर उसने अपना शरीर त्याग दिया और फिर महात्मा जनकजीके यहाँ ही पुत्ररूपसे जन्म लिया।

तब उस सुन्दरीने अपने पिताको विवाहके लिये प्रेरित किया। उसकी प्रेरणासे राजाने उसके स्वयंवरका आयोजन किया। स्वयंवर होनेपर उस राजकन्याने स्वयंवरमें आये हुए अपने उस पतिको फिर पतिभावसे वरण कर लिया। उस राजकुमारने काशिराजसुताके साथ नाना प्रकारके भोग भोगे और फिर पिताके परलोकवासी होनेपर विदेहनगरका राज्य किया। उसने बहुत-से यज्ञ किये, याचकोंको नाना प्रकारसे दान दिये, बहुत-से पुत्र उत्पन्न किये और शत्रुओंके साथ अनेकों युद्ध किये। इस प्रकार उस राजाने पृथिवीका न्यायानुकूल पालन करते हुए राज्य-भोग किया और अन्तमें अपने प्रिय प्राणोंको धर्मयुद्धमें छोड़ा। तब उस सुलोचनाने पहलेके समान फिर अपने चितारूढ पतिका विधिपूर्वक प्रसन्न-मनसे अनुगमन किया। इससे वह राजा उस राजकन्याके सहित इन्द्रलोकसे भी उत्कृष्ट अक्षय लोकोंको प्राप्त हुआ।

इस प्रकार शुद्ध हो जानेपर उसने अतुलनीय अक्षय स्वर्ग, अति दुर्लभ दाम्पत्य और अपने पूर्वार्जित सम्पूर्ण पुण्यका फल प्राप्त कर लिया। (श्रीविष्णुपुराण ३।१८।५३—९५)

श्रीअमूर्तजी

श्रीअमूर्तजी परम निष्ठावान् भक्त थे। इनको हरिदासजी भी कहते हैं। ये रात-दिन भगवान्के ध्यानमें लीन रहा करते थे। इनकी बाल्यकालसे ही भगवान्में सहज प्रीति थी।

महाराज रन्तिदेव

चन्द्रवंशी राजा दुष्यन्तके वंशमें संकृति नामके एक राजा थे। राजा संकृतिके दो पुत्र थे—गुरु और रन्तिदेव। इनमें रन्तिदेव बड़े ही न्यायशील, धर्मात्मा और दयालु थे। दूसरोंकी दरिद्रता देखना उनसे सहा ही नहीं जाता था। अपनी सारी सम्पत्ति उन्होंने दीन-दु:खियोंको बाँट दी थी और स्वयं बड़ी कठिनतासे निर्वाह करते थे। ऐसी दशामें भी उन्हें जो कुछ मिल जाता था, उसे दूसरोंको दे देते थे और स्वयं भूखे ही रह जाते थे।

एक बार रन्तिदेव तथा उनके पूरे परिवारको अड़तालिस दिनोंतक, भोजनकी तो कौन कहे, पीनेको जल भी नहीं मिला। देशमें घोर अकाल पड़ जानेसे जल मिलना भी दुर्लभ हो गया था। भूख-प्याससे राजा तथा उनका परिवार—सब-के-सब मरणासन्न हो गये। उनचासवें दिन कहींसे उनको घी, खीर, हलवा और जल मिला। अड़तालीस दिनोंके निर्जल व्रती थे वे। उनका शरीर काँप रहा था। कण्ठ सूख गया था। शरीरमें उठनेकी शक्ति नहीं थी। ऐसी दशामें रन्तिदेव भोजन करने जा ही रहे थे कि एक ब्राह्मण अतिथि आ गये। रन्तिदेवने बड़ी श्रद्धासे उन विप्रको उसी अन्नमेंसे भोजन कराया।

विप्रके भोजन कर लेनेपर बचे हुए अन्नको राजाने अपने परिवारके लोगोंमें बाँट दिया। वे सब भोजन करने जा ही रहे थे कि एक शूद्र अतिथि आ गया। उस दरिद्र शूद्रको भी राजाने आदरपूर्वक भोजन करा दिया। अब एक चाण्डाल कई कुत्तोंके साथ आया और कहने लगा—'राजन्! मेरे ये कुत्ते भूखे हैं और मैं भी बहुत भूखा हूँ।'

रन्तिदेवने उन सबका भी सत्कार किया। सभी प्राणियोंमें श्रीहरिको देखनेवाले उन महापुरुषने बचा हुआ सारा अन्न कुत्तों और चाण्डालके लिये दे दिया। अब केवल इतना जल बचा था, जो एक मनुष्यकी प्यास बुझा सके। राजा उससे अपना सूखा कण्ठ गीला करना चाहते थे कि एक और चाण्डाल आकर दीन स्वरसे कहने लगा—'महाराज! मैं बहुत थका हूँ। मुझ अपवित्र नीचको पीनेके लिये थोड़ा पानी दीजिये।'

चाण्डाल थका था और बहुत प्यासा था। उसकी वाणी बड़े परिश्रमसे निकलती जान पड़ी थी।

उसकी दशा देखकर राजाको बड़ी दया आयी। स्वयं प्यासके मारे मरणासन्न रहनेपर भी परम दयालु राजा रन्तिदेवने वह जल आदर एवं प्रसन्नताके साथ चाण्डालको पिला दिया।

भक्तोंकी कामना पूर्ण करनेवाले त्रिभुवनके स्वामी ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही रन्तिदेवकी परीक्षाके लिये इन रूपोंमें आये थे। राजाका धैर्य देखकर वे प्रकट हो गये। राजाने उनको प्रणाम किया, उनका पूजन किया। बहुत कहनेपर भी रन्तिदेवने कोई वरदान नहीं माँगा। जैसे जगनेपर स्वप्न लीन हो जाता है, वैसे ही भगवान् वासुदेवमें चित्तको तन्मय कर देनेसे राजा रन्तिदेवके सामनेसे त्रिगुणमयी माया लीन हो गयी। रन्तिदेवके प्रभावसे उनके परिवारके सब लोग भी नारायणपरायण होकर योगियोंकी परम गतिको प्राप्त हुए।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज रन्तिदेवकी उपर्युक्त कथाका अपने निम्न कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

अहो रन्तिदेव नृप सन्त दुसयन्त वंश अति ही प्रशंस सो अकाश वृत्ति लई है।
भूखे को न देखि सकैं आवै सो उठाइ देत नेति नहिं करैं भूखे देह छीन भई है॥
चालिस औ आठ दिन पीछे जल अन्न आयो दियो विप्र शूद्र नीच श्वान यह नई है।
हरि कों निहारैं उन माँझ तब आए प्रभु भाए जग दुःख जिते भोगौं भक्ति छई है॥ ९४॥

गुरुभक्त उत्तंक

गुरुभक्त उत्तंक आचार्य वेदके शिष्य थे। एक बार राजा जनमेजय और पौष्यने आचार्य वेदको पुरोहितके रूपमें वरण किया। वेद कभी पुरोहितीके कामसे बाहर जाते तो घरकी देखरेखके लिये अपने शिष्य उत्तंकको नियुक्त कर जाते थे। एक बार आचार्य वेदने बाहरसे लौटकर अपने शिष्य उत्तंकके सदाचार-पालनकी बड़ी प्रशंसा सुनी, तो उन्होंने कहा—'बेटा! तुमने धर्मपर दृढ़ रहकर मेरी बड़ी सेवा की है। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारी सारी कामनाएँ पूर्ण होंगी। तुम्हारी शिक्षा पूरी हुई, तुम अब जाओ।' उत्तंकने प्रार्थना की, 'आचार्य! मैं आपको कौन-सी प्रिय वस्तु भेंटमें दूँ?' आचार्यने पहले तो अस्वीकार किया, पीछे कहा कि 'अपनी गुरुमातासे पूछ लो।' जब उत्तंकने गुरुमातासे पूछा तो उन्होंने कहा, 'तुम राजा पौष्यके पास जाओ और उनकी रानीके कानोंके कुण्डल माँग लाओ। मैं आजके चौथे दिन उन्हें पहनकर ब्राह्मणोंको भोजन परोसना चाहती हूँ।'

उत्तंक बड़ी कठिनाईसे राजा पौष्यके पास पहुँचे और शुद्धहृदय हो, उनकी आज्ञा ले अन्तःपुरमें प्रविष्ट हुए। रानीने उत्तंकको सत्पात्र समझकर अपने कुंडल दे दिये। साथ ही यह कहकर सावधान भी कर दिया कि नागराज तक्षक ये कुण्डल चाहता है। कहीं तुम्हारी असावधानीसे लाभ उठाकर वह ले न जाय!

मार्गमें चलते समय उत्तंकने देखा कि उसके पीछे-पीछे एक नग्न क्षपणक चल रहा है, वह कभी प्रकट होता है और कभी छिप जाता है। एक बार उत्तंकने कुण्डल रखकर जल लेनेकी चेष्टा की। इतनेमें ही वह क्षपणक कुण्डल लेकर अदृश्य हो गया। नागराज तक्षक ही उस वेषमें आया था। उत्तंकने इन्द्रके वज्रकी सहायतासे नागलोकतक उसका पीछा किया। अन्तमें भयभीत होकर तक्षकने उसे कुण्डल दे दिये। उत्तंक ठीक समयपर अपनी गुरुमाताके पास पहुँचा और उन्हें कुण्डल देकर आशीर्वाद प्राप्त किया। ऐसे आदर्श गुरुभक्त शिष्य थे उत्तंक!

× × ×

एक अन्य भक्त मुनि उत्तंकके विषयमें निम्नलिखित कथा भी प्राप्त होती है, जो इस प्रकार है—

सौवीर नगरमें एक सुन्दर बगीचा था। उसमें एक बड़ा भव्य एवं विशाल विष्णुभगवान्‌का मन्दिर था। महात्मा उत्तंक उस बगीचेमें रहकर मन्दिरमें भगवान् विष्णुकी पूजा किया करते थे। वे भगवान्‌की सेवामें रात-दिन लगे

रहनेवाले, परम शान्त, निःस्पृह, दयालु और महात्मा थे।

एक दिन कणिक नामका व्याध-डाकू मन्दिरके सामनेसे निकलकर जा रहा था। उसकी दृष्टि मन्दिरके ऊपर लगे हुए स्वर्ण-कलशपर पड़ी। उसे देखकर कणिकने अनुमान लगाया कि मन्दिरके अन्दर अपार धन-सम्पत्ति होगी। रातमें वह मन्दिरमें घुस गया। महात्मा उत्तंक उस समय भगवान्‌के ध्यानमें निमग्न होकर उनका भजन कर रहे थे। डाकूने देखा कि जागते हुए व्यक्तिके सामनेसे धन ले जाना बड़ा मुश्किल है, अतः उसने एक हाथसे उनकी चोटी पकड़ी और दूसरे हाथमें तलवार लेकर उनका मस्तक काटनेको तैयार हो गया। तब बड़े मीठे शब्दोंमें उत्तंकने डाकूसे कहा—भद्र! मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है, जो तुम मुझको मारनेको उद्यत हो? मुनि उत्तंककी अमृतमयी वाणीका प्रभाव डाकूपर ऐसा पड़ा कि उसका हृदय बिलकुल पलट गया। पहले किये पापोंका पश्चात्ताप करके वह क्षमा माँगते हुए रोने लगा। जब वह इस पश्चात्तापकी जलनको न सह सका तो उसने अपने प्राणोंको त्याग दिया। तब मुनिने भगवान्‌का चरणामृत उसके मृत शरीरपर डाला। उस दिव्य भगवच्चरणामृतके स्पर्शसे डाकूका उद्धार हो गया, मुनि पुनः भगवान्‌की भक्तिमें तल्लीन रहने लगे। समय आनेपर वे भी दिव्यरूप धारणकर भगवद्धाममें चले गये।

श्रीभूरिश्रवाजी

कुरुकुलकी कीर्तिको बढ़ानेवाले श्रीभूरिश्रवाजी महाराज शान्तनुके ज्येष्ठभ्राता बाह्लीकके पौत्र और सोमदत्तके पुत्र थे। नरश्रेष्ठ सोमदत्तकी दीर्घकालीन आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने उन्हें पुत्र-प्राप्तिका वरदान दिया था, जिसके प्रभावसे इन्हें महान् तेजस्वी, महारथी और यज्ञोंमें प्रचुर दक्षिणा देनेवाले भूरिश्रवासदृश पुत्रकी प्राप्ति हुई थी। भूरिश्रवाने अनेक महान् यज्ञ किये थे और उनमें हजारों स्वर्णमुद्राओंकी दक्षिणा दी थी। यद्यपि भूरिश्रवा भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और शल्यकी भाँति कौरव पक्षसे युद्ध कर रहे थे, परंतु ये इस विनाशकारी युद्धके पक्षमें नहीं थे, इन्होंने पाण्डवोंके बल-पराक्रमका वर्णनकर दुर्योधनको सन्धि करनेकी सलाह दी थी। शत्रुपक्षी होते हुए भी अर्जुन और श्रीकृष्णने इनके भगवद्भावकी बड़ी प्रशंसा की। परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करते हुए इनकी मृत्यु हुई थी। भगवान् श्रीकृष्णने इनकी मृत्युका सम्मान करते हुए इन्हें इस प्रकार वर दिया—

ये लोका मम विमलाः सकृद् विभाता
ब्रह्माद्यैः सुरवृषभैरपीष्यमाणाः।
तान क्षिप्रं व्रज सततागिनहोत्रयाजिन्
मत्तुल्यो भव गरुडोत्तमाङ्गयानः॥

(महा० द्रोण० १४३।४८)

अर्थात् निरन्तर अग्निहोत्रद्वारा यजन करनेवाले भूरिश्रवाजी! मेरे जो निरन्तर प्रकाशित होनेवाले निर्मल लोक हैं और ब्रह्मा आदि देवेश्वर भी जहाँ जानेकी सदैव अभिलाषा रखते हैं, उन्हीं लोकोंमें आप शीघ्र पधारिये और मेरे ही समान गरुडकी पीठपर बैठकर विचरण करनेवाले होइये।

महर्षि देवल

महर्षि देवल ब्रह्माजीके प्रपौत्र हैं। प्रचेताके पुत्र महर्षि असित ने सौ वर्षतक भगवान् शिवसे प्राप्त भगवती राधिकाके मन्त्रका जपकर उन्हें पुत्ररूपमें प्राप्त किया था। महर्षि देवलने साठ हजार वर्षोंतक निराहार रहकर तपस्या की, इससे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णने भगवती राधिकासहित उन्हें दर्शन दिये। भक्तश्रेष्ठ देवलने उनकी स्तुति करते हुए उनके चरणोंमें गिरकर प्राण त्याग दिये। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं उनका दाह-संस्कार

किया और राधाजीसे कहा कि इनसे बड़ा मेरा भक्त न हुआ है न होगा। महर्षि देवलकी गणना अत्यन्त प्राचीन धर्मशास्त्रकारोंमें की गयी है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवत्तत्त्वके ज्ञाता महर्षियोंमें महर्षि असित एवं देवलका नाम बड़े ही आदरभावसे लिया गया है—**'असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥'** (गीता १०। १३)

श्रीवैवस्वत मनुजी

विश्वकर्माकी पुत्री संज्ञा भगवान् सूर्यकी पत्नी हैं। उनके गर्भसे वैवस्वत मनुका जन्म हुआ, जो परम विख्यात यशस्वी और अनेक विषयोंके परिज्ञानमें पारंगत थे। विवस्वान् (सूर्य)-के पुत्र होनेके कारण ही ये वैवस्वत कहलाये। पिता भगवान् सूर्यने इन्हें भगवान्‌से प्राप्त गुह्यतम ज्ञानकी शिक्षा दी थी, जिसका वर्णन गीताके चतुर्थ अध्यायमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने किया है। ये भगवान्‌के बड़े भक्त थे। इन्होंने बदरिकाश्रममें जाकर दोनों बाहें ऊपर उठाये एक पैरसे खड़े होकर दस हजार वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की। ये चौदह मनुओंमें सातवें मनु हैं। वर्तमान मन्वन्तराधिपति ये ही हैं। समस्त पुण्य कार्योंमें इनका पावन स्मरण **'सप्तमे वैवस्वतमन्वन्तरे'** कहकर संकल्पमें किया जाता है। भागवतके अनुसार राजर्षि सत्यव्रत ही वैवस्वत मनु हुए हैं, जिन्हें ब्राह्म कल्पमें भगवान्‌ने मत्स्य-अवतार लेकर मत्स्यपुराणके रूपमें भगवत्तत्त्वका ज्ञान दिया था।

राजर्षि नहुषजी

महाराज नहुष महान् तेजस्वी, यशस्वी, धर्मिष्ठ और दानी थे। देवराज इन्द्र जब वृत्रासुरका वध करनेसे ब्रह्महत्याद्वारा पीड़ित होकर जलमें छिपे रहे तो चारों ओर अराजकता छा गयी, तब देवताओंने राजा नहुषको इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित किया।

नहुषने एक दिन इन्द्राणीको देखा तो उनका चित्त दूषित हो गया और उन्होंने आज्ञा दी कि शची देवी आज मेरे महलमें शीघ्र पधारें। इन्द्राणी भयभीत तथा चिन्तातुर हो गयीं, वे अपने स्वामी तथा इन्द्रका पता लगाकर उनके पास गयीं और सब वृत्तान्त कह सुनाया तथा पातिव्रत्यकी रक्षा चाही। इन्द्रने यह उपाय बताया कि तुम एकान्तमें नहुषसे मिलकर कहो कि तुम मुझसे मिलनेके लिये ऋषीश्वरोंकी दिव्य सवारीपर चढ़कर आओ। तब मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे अधीन हो जाऊँगी। शचीने ऐसा ही किया। नहुष सहर्ष तैयार हो गये और देवर्षियों तथा महर्षियोंसे पालकी उठवाकर इन्द्राणीके पास चले। नहुष 'सर्प-सर्प' अर्थात् 'जल्दी चलो-जल्दी चलो' इस प्रकार कहकर ऋषियोंको शासित कर रहा था। परंतु पालकी ढोनेके अनभ्यस्त ऋषिगण धीरे-धीरे ही चल रहे थे। क्रोधान्ध हो नहुषने श्रीअगस्त्यजीके सिरपर लात चलायी। श्रीअगस्त्यजीने शाप दे दिया कि तूने अधर्मसे व्याप्त होकर मेरे सिरमें पैरकी ठोकर मारी, अतः तू हततेज होकर पृथ्वीपर गिर और दस हजार वर्षतक अजगर बना रहे। नहुषका कामका नशा उतर गया और अत्यन्त दीन होकर मुनिश्रेष्ठ श्रीअगस्त्यजीसे प्रार्थना की कि प्रभो! मेरे शापका अन्त नियत कर दीजिये। तब श्रीअगस्त्यजीने कहा कि जो तुम्हारे पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर दे दे, वही तुम्हें शापसे छुड़ा सकता है। राजन्! जिसे तुम पकड़ लोगे, वह बलवान्‌से भी बलवान् क्यों न हों, उसका भी धैर्य छूट जायगा। तत्पश्चात् राजा नहुष अजगर होकर पृथ्वीपर गिर पड़े।

जब पाण्डव जुएमें हारकर वनवास कर रहे थे। उस समय द्वैतवनमें एक दिन भीमसेन नहुष (अजगर)-की पकड़में आ गये। लाख प्रयत्न करनेपर भी महाबली भीम अपनेको छुड़ानेमें जब समर्थ नहीं हो सके, तब उनको खोजते-खोजते धर्मराज युधिष्ठिरजी वहाँ पहुँचे। श्रीधर्मराजने अजगरसे भीमको छोड़ देनेके लिये बहुत प्रार्थना की। अजगरने कहा—यदि तुम मेरे पूछे हुए कुछ प्रश्नोंका अभी उत्तर दे दोगे तो मैं तुम्हारे भाईको छोड़ दूँगा। श्रीयुधिष्ठिरजीकी अनुमति पाकर अजगरने पूछा—राजन्! यह बताओ कि ब्राह्मण कौन है? जाननेयोग्य तत्त्व क्या है? श्रीयुधिष्ठिरजीने कहा—नागराज! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता,

क्रौर्याभाव, तपस्या और दया—ये सद्गुण दिखायी देते हों, वही ब्राह्मण कहा गया है तथा जाननेयोग्य तत्त्व तो परब्रह्म ही कहा गया है। अजगरने कहा—'युधिष्ठिर! तुम जाननेयोग्य सभी बातें जानते हो। तुम्हारे शुभागमनसे मेरे लिये यह महान् पुण्यकाल उपस्थित हो गया है, अब इस घोर तमोमयी योनिसे मेरा उद्धार हो गया है।' यह कहते हुए राजा नहुषने अजगरका शरीर त्याग दिया और वे दिव्य शरीर धारण करके स्वर्गलोकको चले गये।

राजर्षि ययाति

राजा नहुषके यति, ययाति, संयाति, आयाति, वियाति और कृति नामक छः महाबलविक्रमशाली पुत्र हुए। यतिने राज्यकी इच्छा नहीं की, इसलिये ययाति ही राजा हुए। ययातिने शुक्राचार्यजीकी पुत्री देवयानी और वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठासे विवाह किया था। देवयानीने यदु और तुर्वसुको जन्म दिया तथा वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने द्रुह्यु, अनु और पूरुको उत्पन्न किया।

ययातिको शुक्राचार्यजीके शापसे युवावस्थामें ही बुढ़ापेने घेर लिया था, किंतु उनकी विषय-कामना शान्त नहीं हुई थी, उन्होंने पुत्रोंसे वृद्धावस्था लेकर उनकी युवावस्थाको ग्रहण करना चाहा, किंतु प्रत्येकके अस्वीकार करनेपर उन्होंने उन सभीको शाप दे दिया। अन्तमें सबसे छोटे शर्मिष्ठाके पुत्र पूरुसे भी वही बात कही तो उसने अति नम्रता और आदरके साथ पिताको प्रणाम करके उदारतापूर्वक कहा—'यह तो हमारे ऊपर आपका महान् अनुग्रह है।' ऐसा कहकर पूरुने अपने पिताकी वृद्धावस्था ग्रहणकर उन्हें अपनी युवावस्था दे दी।

राजा ययातिने पूरुकी युवावस्था लेकर समयानुसार प्राप्त हुए यथेच्छ विषयोंको अपने उत्साहके अनुसार धर्मपूर्वक भोगा और अपनी प्रजाका भली प्रकार पालन किया। फिर शर्मिष्ठा और देवयानीके साथ विविध भोगोंको भोगते हुए 'मैं कामनाओंका अन्त कर दूँगा'—ऐसा सोचते-सोचते वे क्षुब्धचित्त हो गये, अन्तमें उन्होंने इस प्रकार अपना उद्गार प्रकट किया—

'भोगोंकी तृष्णा उनके भोगनेसे कभी शान्त नहीं होती, बल्कि घृताहुतिसे अग्निके समान वह बढ़ती ही जाती है। सम्पूर्ण पृथ्वीमें जितने भी धान्य, यव, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक मनुष्यके लिये भी पर्याप्त नही हैं, इसलिये तृष्णाको सर्वथा त्याग देना चाहिये। जिस समय कोई पुरुष किसी भी प्राणीके लिये पापमयी भावना नहीं करता, उस समय उस समदर्शीके लिये सभी दिशाएँ सुखमयी हो जाती हैं। दुर्मतियोंके लिये जो अत्यन्त दुस्त्यज है तथा वृद्धावस्थामें भी जो शिथिल नहीं होती, बुद्धिमान् पुरुष उस तृष्णाको त्यागकर सुखसे परिपूर्ण हो जाता है। अवस्थाके जीर्ण होनेपर केश और दाँत तो जीर्ण हो जाते हैं; किंतु जीवन और धनकी आशाएँ उसके जीर्ण होनेपर भी जीर्ण नहीं होतीं*। बड़े दुःखका विषय है, विषयोंमें आसक्त रहते हुए मुझे एक सहस्र वर्ष बीत गया, फिर भी नित्य ही उनमें मेरी कामना होती है। अतः अब मैं इसे छोड़कर अपने चित्तको भगवान्‌में ही स्थिरकर निर्द्वन्द्व और निर्मम होकर वनमें विचरूँगा।'

ऐसा कहकर राजा ययातिने पूरुसे अपनी वृद्धावस्था वापस लेकर उसकी युवावस्था लौटा दी। स्वयं वनको चले गये।

---

* न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्। समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वास्सुखमया दिशः॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। तां तृष्णां सन्त्यजेत्प्राज्ञस्सुखेनैवाभिपूर्यते॥
जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः। धनाशा जीविताशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यतः॥ (वि० पु० ४। १०। २३—२७)

महाराज दिलीप

इक्ष्वाकुवंशमें महाराज दिलीप बड़े ही प्रसिद्ध राजर्षि हो गये हैं। वे बड़े भक्त, धर्मात्मा और प्रजापालक राजा थे। चारों वर्ण उनके शासनसे सन्तुष्ट थे। महाराजको सभी प्रकारके सुख थे, किंतु उनके कोई संतान नहीं थी। एक बार ये इसके लिये अपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठजीके आश्रमपर गये और अपने आनेका कारण बताकर उनसे उपाय पूछा।

महर्षि वसिष्ठने दिव्यदृष्टिसे सब बातें समझकर कहा—'राजन्! आप एक बार देवासुर-संग्राममें गये थे। वहाँसे लौटकर जब आप आ रहे थे, तब रास्तेमें आपको सुरनन्दिनी कामधेनु मिली। आपके सामने होनेपर भी आपकी दृष्टि उनपर नहीं पड़ी, इसलिये आपने उन्हें प्रणाम नहीं किया। कामधेनुने इसे अविनय समझकर आपको संतानहीनताका शाप दे दिया। अतः अब आप गो-सेवा करें। भगवान्ने चाहा तो आपका मनोरथ शीघ्र ही पूरा होगा।'

गुरुकी आज्ञा शिरोधार्यकर महाराज अपनी महारानीके सहित गौकी सेवामें लग गये। अनन्य गोसेवाके प्रभावसे यथासमय उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। यही बालक रघुकुलका प्रतिष्ठाता रघु नामसे विख्यात हुआ।

श्रीपूरुजी

श्रीपूरुजी पौरव वंशके प्रवर्तक आदि पुरुष थे। इनका गुरुजनोंके प्रति बड़ा आदर भाव था। जिस समय इनके पिता राजा ययाति अपनी वृद्धावस्थाके बदले पुत्रोंसे उनकी युवावस्था माँग रहे थे और सभी पुत्रोंने अस्वीकार कर दिया। तब राजाने अपने सबसे छोटे पुत्र पूरुसे कहा। उस समय पूरुने **'गुरोराज्ञागरीयसी'** का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन किया है। यथा—

गुरोर्वै वचनं पुण्यं स्वर्ग्यमायुष्करं नृणाम्।
गुरुप्रसादात् त्रैलोक्यमन्वशासच्छतक्रतुः॥
गुरोरनुमतिं प्राप्य सर्वान् कामानवाप्नुयात्॥

(म० भा०)

गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन मनुष्योंके लिये पुण्य, स्वर्ग तथा आयु प्रदान करनेवाला है। गुरुके ही प्रसादसे इन्द्रने तीनों लोकोंका शासन किया है। गुरुस्वरूप पिताकी अनुमति प्राप्त करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। यह कहकर पूरुने सहर्ष अपनी युवावस्था पिताको देकर बदलेमें उनके बुढ़ापेको स्वीकार कर लिया, जिससे कि महान् यशके भागी हुए। इनको गुरुजनोंकी कृपासे परावर तत्त्वका ज्ञान था। इस कारण ये जगत्प्रपंचसे सर्वथा अनासक्त रहे। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने इनका पितृ-भक्तरूपमें स्मरण किया है। यथा—***'तनय जजातिहि जौबनु दयऊ। पितु अग्याँ अघ अजसु न भयऊ॥'*** पूरुजीके वंशमें बहुतसे राजर्षि और ब्रह्मर्षि भी हुए हैं।

श्रीयदुजी

ये राजा ययातिके प्रथम पुत्र थे, जो देवयानीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। ये यादववंशके प्रवर्तक राजा हुए। इन्हींके वंशमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव हुआ था। ये बड़े धर्मज्ञ तथा धर्मशील थे। यथा—**अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम्। कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित्॥** (श्रीमद्भा० ११।७।२५) तथा—**यदोश्च धर्मशीलस्य**…। यहाँ यदि कोई शंका करे कि इन्होंने तो पिता ययातिकी आज्ञाका उल्लंघन कर दिया था जो कि अधर्म है। फिर इन्हें धर्मवित् या धर्मशील कैसे कहा गया? इसका समाधान यह है कि इन्होंने मुख्य धर्म भगवद्भक्तिको प्राधान्य देकर सामान्य धर्म पित्राज्ञापालनको अस्वीकार

किया था, अतः अधर्म नहीं है। वास्तविक धर्म तो भगवद्भक्ति ही है। यथा—**धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तो**......। और पिताकी आज्ञा मानकर जरावस्थाको स्वीकार करनेसे भगवद्भजनमें बाधा पड़ती। जरावस्था साधनोपयोगी नहीं कही गयी है।

अतः इन्होंने पिताकी आज्ञाको नहीं माना। पुनः परम पिता परमात्माकी सेवामें दत्तचित्त यदुने यदि लौकिक पिताके वचनको नहीं माना तो कोई दोष नहीं। सामान्य धर्मसे विशेष धर्म श्रेष्ठ है। पुनः राजा ययातिके आज्ञापालनमें यदुको महान् अनौचित्य यह दिखायी पड़ा कि मुझ पुत्रकी युवावस्थासे माताके साथ भोग-विलास करना चाहते हैं, जो कि सर्वथा धर्मके प्रतिकूल है। पुनः हरिवंशपुराणमें वर्णन आता है कि श्रीयदुजीने किसी ब्राह्मणको उनके अनिर्दिष्ट कार्यकी पूर्तिका वचन दे दिया था। जरावस्थाके अंगीकार करनेपर वह कार्य-सम्पादन असम्भव हो जाता, इसलिये भी पिताकी आज्ञा नहीं मानी। इसमें यदुजीकी ब्रह्मण्यता प्रदर्शित होती है। पुनः यदि श्रीयदुजीने पिताकी एक आज्ञा नहीं मानी तो उसके प्रायश्चित्तके लिये सम्पूर्ण जीवन धर्माचरणमें बिताया और इनकी धर्मशीलताका परम प्रमाण तो यह है कि स्वयं भगवान्ने इनके कुलमें जन्म लिया। श्रीयदुजी महाराज भगवान् दत्तात्रेयजीसे ज्ञान प्राप्तकर जीवन्मुक्त हो गये थे।

श्रीगुह निषादजी

ये भगवान् श्रीरामजीके अत्यन्त प्रिय सखा थे। जातिके निषाद एवं शृंगवेरपुरके राजा थे। शिवपुराणमें इनके पूर्वजन्मका प्रसंग प्राप्त होता है। कथा इस प्रकारसे है—एक जंगलमें गुरुद्रुह नामका एक भील रहता था। जीवोंकी हिंसा करना उसका सहज कर्म बन गया था। उसीसे वह परिवारका पालन-पोषण करता था। महाशिवरात्रिका दिन था, वह प्रातःकाल ही शिकारकी टोहमें घरसे निकल पड़ा, परंतु दैवयोगसे उस दिन उसे कुछ नहीं मिला। सन्ध्या हो गयी। घरके लोग भूखे बाट देखते होंगे, अतः अवश्यमेव कुछ लेकर ही लौटना चाहिये। यह विचारकर वह भील एक जलाशयके समीपके बेलके वृक्षपर चढ़ गया। उसके नीचे एक शिवलिंग था। रात्रिके प्रथम प्रहरमें एक हरिणी जल पीनेके लिये जलाशयपर आयी। भील हर्षित होकर अपना धनुष-बाण सँभालने लगा। इसीमें उसके शरीरके हिलनेसे कन्धेपर लटकती हुई जलभरी तूँबीसे कुछ जल छलककर श्रीशिवलिंगपर जा पड़ा तथा धनुष-बाणके संचालनसे बिल्वपत्र भी टूटकर शिवलिंगपर जा पड़ा। इस अचानक सम्पादित हुए सुकृतसे उस भीलका बहुत-सा पाप तत्काल नष्ट हो गया।

इतनेमें हरिणीकी दृष्टि व्याधपर गयी। वह उसके अभिप्रायको समझकर बोली—व्याध! मैं अपने बच्चोंको अपनी बहनको अथवा स्वामीको सौंपकर अभी आती हूँ, फिर तुम मुझे मारकर अपनी उदरपूर्ति कर लेना। मैं शपथपूर्वक कहती हूँ, मेरे वचनोंका विश्वास करो। अकस्मात् सम्पन्न शिवार्चनके पुण्य-प्रभावसे व्याधने दया करके उस हरिणीको छोड़ दिया। थोड़ी देर बाद उसी हरिणीकी बहन दूसरी हरिणी वहीं जल पीनेके लिये आयी। उसके वधका उद्योग करते समय पुनः पूर्ववत् जल और बिल्वदल शिवलिंगपर जा गिरा। इस हरिणीने भी व्याधसे पहली हरिणीके समान ही वार्ता की। व्याधने इसे भी छोड़ दिया। इतनेमें एक हृष्ट-पुष्ट हरिण जलाशयकी ओर आता दिखायी पड़ा। पुनः उसके भी वधोद्योगमें सहज शिवार्चन सम्पन्न हो गया। वधका अभिप्राय समझकर हिरणने भी यह निवेदन किया कि मैं अभी-अभी अपने बच्चोंको उनकी माताके हाथों सौंपकर आता हूँ। व्याध यद्यपि स्वयं बहुत भूखा था, परिवारके लोग अत्यन्त क्षुधार्त होकर उसके आनेकी बाट देख रहे थे, परंतु श्रीशिवजीकी कृपासे उसके समस्त पाप नष्ट हो गये थे, हृदय शुद्ध हो गया था। शिवरात्रिके दिन उसने जो अनायास व्रत एवं शिवार्चन कर लिया था, उसके फलस्वरूप उसे

आशुतोष और औढरदानी शिवकी कृपा प्राप्त हो गयी थी। व्याधने दयापरवश हो मृगको भी छोड़ दिया।

निवास-स्थानपर पहुँचनेपर जब मृग और दोनों मृगियाँ मिलीं तो परस्पर विचार-विमर्शकर उन्होंने यही निर्णय किया कि हम सब लोग मिलकर व्याधके पास चलें, क्योंकि सबने सत्यकी सौगन्ध खायी है। माता-पिताको जाते देख बच्चे भी साथ लग गये। इस मृगसमूहको देखकर व्याधको बड़ा ही हर्ष हुआ और धनुषपर बाण-सन्धान करनेका उपक्रम करने लगा। पुनः जल और बिल्वदल शिवलिंगपर गिरे। उस व्याधके पाप तो पहलेके ही पूजनके प्रभावसे नष्ट हो गये थे। इस बार तो उसे दयाके साथ विवेक भी प्राप्त हो गया। व्याधको सहसा बड़ी ही आत्मग्लानि हुई कि ये पशु होकर भी कितने परमार्थनिष्ठ हैं और मैं मनुष्य होकर भी परमार्थकी कौन कहे, स्वार्थसे भी विमुख रहा। उचित रीतिसे मैं उदरपूर्ति करनेमें भी असमर्थ रहा। धन्य हैं ये मृग और मेरे जीवनको बार-बार धिक्कार है! इस प्रकार ज्ञानसम्पन्न होनेपर व्याधने अपने बाणोंको रोक लिया और कहा—श्रेष्ठ मृगो! तुम धन्य हो, तुम्हारा कल्याण हो, तुम जाओ। व्याधके ऐसा कहनेपर भगवान् शिवजीने तत्काल प्रकट होकर अपने दिव्य स्वरूपका दर्शन कराया और प्रसन्न होकर सुदुर्लभा भक्तिका वरदान देकर बोले—व्याध! एक दिन निश्चय ही भगवान् श्रीराम तुम्हारे घर आयेंगे और तुम्हारे साथ मित्रता करेंगे। वे मृग भी शिवजीका दर्शनकर दिव्यरूप धारणकर दिव्य शिवलोकको चले गये और वह भील भी कालान्तरमें शृंगवेरपुरका राजा निषादराज गुह हुआ, जिसकी श्रीरामजीमें अविचल प्रीति थी। तभी तो कहा गया है—***सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥***

निषादराज गुह और श्रीरामजीके प्रथम मिलनकी बड़ी मधुर कथा सन्त-महानुभाव इस प्रकार वर्णन करते हैं—निषादराजके पितासे और चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजीसे बड़ी मित्रता थी। वे समय-समयपर श्रीअयोध्या आया करते थे। जिस समय श्रीदशरथजीके यहाँ प्रभुका प्रादुर्भाव हुआ, उस समय वे अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे। लालको बधाई लेकर तो वे स्वयं आये थे और चारों कुमारोंका दर्शनकर परम सुख पाये थे। परंतु एक तो स्वयं जराग्रस्त थे, दूसरे बालक गुह नित्य अयोध्याके लिये मचलता रहता था और जबसे उसने श्रीरामकी शोभाका वर्णन सुना था, तबसे तो वह श्रीअयोध्या जाकर भ्राताओंसहित श्रीरामका दर्शन करनेके लिये विशेष उत्कण्ठित रहने लगा था। आज-कल करते-करते पाँच वर्ष बीत गये। गुह अब कुछ बड़ा भी हो गया था और उधर राजकुमार भी अवधकी गलियोंमें विविध विनोद करते हुए विहरने लगे, तब एक दिन वृद्ध पिताने गुहको श्रीअयोध्या जानेकी आज्ञा दी। गुहके हर्षका पारावार नहीं रहा। भेंटके लिये वन्य कन्द-मूल, फल तथा चारों राजकुमारोंके लिये चार जोड़ी रुरुनामक मृगके चर्मसे बनी हुई सुन्दर पनहियाँ बगलमें दबाये हुए गुह श्रीअयोध्याको चल पड़े, हृदयमें अनेकानेक मधुर भावनाओंको सँजोये हुए। पिताजीके द्वारा सुने हुए राजकुमारोंके सौन्दर्य-माधुर्यका अनुचिन्तन करते हुए गुह श्रीअवधमें आ पहुँचा।

मनमें विचार आया प्रथम श्रीसरयू-स्नान कर लूँ, फिर दरबारमें चलूँ। अतः श्रीसरयूतटपर उपहारकी पोटली रखकर स्नान करने लगा। तबतक क्या देखते हैं कि चार बालक उपहार-पोटली खोल रहे हैं। बालक बड़े सुघर थे, देखते ही मन मोह गया। अतः ऊपरसे तो उन्हें मना करते हैं, परंतु भीतरसे यह हो रहा है कि खोल लो, ले लो, पहन लो, मैं तो आपके लिये ही लाया हूँ। हुआ भी ऐसा ही। गुह मना करते ही रहे बालकोंने पोटली खोल ली, पनहियाँ पहन लीं और केलेके फल लेकर खाते हुए सरजूतटपर विहरने लगे। गुह नाराज भी हो रहा था और प्रसन्न भी। स्नानकर बाहर निकला। वस्त्र बदलकर बालकोंके समीप पहुँचा, कुछ रीझसे, कुछ खीझसे पूछा—आप लोग किसके बालक हैं? आप लोगोंको मालूम नहीं, मैं यह

उपहार चक्रवर्ती महाराज-कुमारोंके लिये लाया था। बालक मधुर मुसकानपूर्वक बोल पड़े—ओ हो! तब तो हमारे लिये ही था। गुहने पूछा—तो क्या महाराज श्रीदशरथजीके राजकुमार आप ही हैं? बालकोंके उत्तर देनेके पूर्व ही गुहका हृदय बोल पड़ा—गुह! सचमुच महाराज श्रीदशरथ-राजकुमार ये ही हैं। तुम्हारे परमाराध्य, प्रिय सखा ये ही हैं। तुम्हारे जीवनधन, प्राण—सर्वस्व यही हैं।

गुहके हृदयके कथनका ही समर्थन बालकोंने भी किया। वे बोले—सखा! महाराजकुमार हम ही हैं। गुहकी आँखें सजल हो गयीं, हाथ जुट गये, शीश झुक गया, चरणोंपर गिरनेके पूर्व ही राजकुमारोंने हाथोंसे थाम लिया। श्रीराम-लक्ष्मणने दाहिना हाथ पकड़ लिया, श्रीभरत-शत्रुघ्नने बायाँ हाथ पकड़ा और लिवा ले चले अपने मित्रको महलकी ओर। गुह गद्‌गद है कृपाको विचारकर। श्रीचक्रवर्तीजी चकित हैं, सख्य प्रेमको देखकर। राजकुमारोंने पिताजीको प्रणाम किया, गुहने भी साश्रुनयन, पुलकिततन, विह्वलवाणीसे हाथ जोड़कर अभिवादन किया। श्रीरामललाने अपने नये सखाका परिचय दिया, श्रीदशरथजीने जैसे अपने पुत्रोंको हृदयसे लगाया, वैसे ही गुहको भी हृदयसे लगा लिया। श्रीदशरथजीने देखा—राम बड़े प्रसन्न हैं अपने इस सखासे और सखाने भी तन-मन-प्राण न्यौछावर कर दिया है उनके ऊपर। महाराजने रोक लिया गुहको श्रीअयोध्यामें, बहाना यह बनाया कि तुम यहाँ रहकर मेरे पुत्रोंको धनुर्विद्याका अभ्यास कराते रहो, वनमें शिकार खेलना सिखाया करो। गुहके लिये तो मानो—***'जनम रंक जनु पारस पावा।'*** सत्योपाख्यान ग्रन्थमें विस्तारसे राजकुमारोंका गुहके साथ वन-क्रीड़ाका प्रसंग वर्णन किया गया है। यथा—

एक बार श्रीरामजीने अनुज और सखाओंसे कहा कि आज वनमें जो प्रथम शिकार सामने आयेगा, उसपर शर-सन्धान मैं करूँगा। यदि दूसरा कोई वार करेगा तो मैं उसे पिताजीसे कहकर दण्ड दिलाऊँगा। सब लोग सजग हो गये। संयोगकी बात, वनमें पहुँचते ही एक सिंह सामने आ डटा। लोग जहाँके तहाँ खड़े हो गये। श्रीराम शर-सन्धानमें बिलम्ब कर रहे थे, सिंह ऊपर टूटने ही वाला था, अनुज एवं अन्य सखा श्रीरामाज्ञाका पालन करते हुए अपने स्थानपर थे, गुहने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया, जो भी दण्ड मिले मैं सह लूँगा, परंतु मेरी आँखके सामने सिंहके द्वारा कोई अनिष्ट मुझे सह्य नहीं। इन्होंने तत्काल एक सांग चलायी। निशाना सही बैठा, सिंह मारा गया। श्रीरामके हृदयमें भक्तवत्सलता उमड़ रही थी, अन्य सशंक हो रहे थे कि इन्होंने श्रीरामकी आज्ञाका उल्लंघन किया, पता नहीं कौन-सा दण्ड मिलेगा? निषादगुह परम प्रसन्न हो रहा था अपने मित्रको सकुशल देखकर। लोग वन-विहारकर घर लौट आये। सबने देखा—श्रीरामके श्रीमुखसे गुहका गुणगान सुनकर श्रीचक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी अपने हाथका आभूषण गुहके हाथमें पहना रहे हैं, हृदयसे लगा रहे हैं तथा तुरंत ही श्रृंगवेरपुरके राजा होनेकी घोषणा कर देते हैं। यथा—

एक बार शिकार को राम गये वन में तब आय के सिंह अड़ा।
भरतादिक संग सखा सकुचे सुनि के रघुनाथ के सौह बढ़ा॥
समया पर सेवक ढीठ न जानि निषाद झपट्ट के सांग जड़ा।
शृंगवेर को राज बकस्स दिये पहिराय दियो निज हाथ कड़ा॥

भगवान् श्रीराम जब वन जाते समय श्रृंगवेरपुर आये तो उस समय निषादराज गुह ही वहाँका राजा था। अपने मित्रको वनवासीके रूपमें देखकर उसे बहुत कष्ट हुआ और उसने हाथ जोड़कर विनय की कि आप इस श्रृंगवेरपुरका राज्य करें और यहीं रहें, परंतु श्रीरामने उसे माता-पिताकी आज्ञा बताकर अपने वनवासका निश्चय बताया। इस प्रकार निषादराज गुह भगवान् श्रीरामका सच्चा मित्र और भक्त था। श्रीरामके प्रति उसकी इतनी निष्ठा थी कि भरतको सेनासहित आते देखकर वह उनसे युद्धके लिये तैयार हो गया, परंतु जब उसे भरतजीके

आन्तरिक भावका पता चला तो उनका श्रीराम-जैसा ही स्वागत किया। धन्य है निषादराज गुह और धन्य है उसकी सख्यभक्ति!

श्रीप्रियादासजीने निषादराज गुहकी उपर्युक्त प्रेममयी भक्तिका निम्न कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

भीलन को राजा गुह राम अभिराम प्रीति भयो वनवास मिल्यो मारग में आइकै।
करौ यह राज जू विराजि सुख दीजै मोको बोले चैन साज तज्यों आज्ञा पितु पाइकै॥
दारुण वियोग अकुलात दृग अश्रुपात पीछे लोहू जात वह सकै कौन गाइकै।
रहे नैन मूँदि रघुनाथ बिन देखौं कहा? अहा प्रेम रीति मेरे हिये रही छाइ कै॥ ९५॥

वनवासकी लीला समाप्त करके चौदह वर्षोंके बाद पुष्पक विमानपर बैठकर जब श्रीरघुनाथजी आये, तब आपके साथी भीलोंने कहा कि प्रभु पधारे हैं, उनका दर्शन कीजिये, पर श्रीनिषादराजको विश्वास नहीं हो रहा था। वे वियोगसे व्याकुल होते हुए बोले—मैं फिरसे श्रीरामको पाऊँ, ऐसा मेरा भाग्य कहाँ? इतनेमें श्रीरामचन्द्रजी आ गये और प्रेमसे मिलकर बोले कि मैं आ गया, मुझे देखिये। निषादराजने भगवान्‌के श्रीअंगको स्पर्श करके पहचाना और प्रभुसे लिपट गये। स्पर्श प्राप्तकर दिव्य सुखसागरमें डूब गये। उनके गये प्राण मानो पुनः आ गये। निषादराजने अपनेको परम सौभाग्यशाली माना।

श्रीप्रियादासजी इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

चौदह वरष पीछे आये रघुनाथ नाथ साथ के जे भील कहैं आए प्रभु देखिये।
बोल्यो 'अब पाऊँ कहाँ?' होति न प्रतीति क्यों हूँ प्रीति करि मिले राम कहि मोको पेखिये॥
परसि पिछाने लपटाने सुख सागर समाने प्राण पाये मानो भाग भाल लेखिये।
प्रेम की जू बात क्यों हूँ बानी में समात नाहिं अति अकुलात कहौ कैसे कै विशेखिये॥ ९६॥

श्रीमान्धाताजी

महाराज इक्ष्वाकुके वंशमें एक युवनाश्व नामके परम प्रतापी राजा हुए। राजा युवनाश्वके सौ रानियाँ थीं। परंतु संतान किसीके भी नहीं थी। इसलिये राजा युवनाश्व दुखी होकर अपनी सभी रानियोंके साथ वनमें चले गये। वहाँ ऋषियोंने कृपा करके राजासे पुत्रप्राप्तिके लिये इन्द्रदेवताका यज्ञ कराया। एक दिन राजा युवनाश्वको रात्रिके समय बड़े जोरकी प्यास लगी। वे यज्ञशालामें गये। किंतु वहाँ देखा कि ऋषि लोग सो रहे हैं। तब जल मिलनेका कोई और उपाय न देखकर उन्होंने वह मन्त्रसे अभिमन्त्रित जल ही पी लिया। जब प्रातःकाल ऋषियोंको मालूम हुआ तो उन लोगोंने भगवदिच्छाको ही प्रधान माना। इसके बाद प्रसवका समय आनेपर युवनाश्वकी दाहिनी कोख फाड़कर एक बालक उत्पन्न हुआ। उसे रोते देखकर ऋषियोंने कहा—यह बालक दूधके लिये रो रहा है। अतः किसका दूध पीयेगा? तब इन्द्रने कहा—मेरा पीयेगा—**'मां धाता'** बेटा! तू रो मत। यह कहकर इन्द्रने अपनी तर्जनी उँगली उसके मुँहमें डाल दी। ब्राह्मणों और देवताओंके प्रसादसे युवनाश्वकी भी मृत्यु नहीं हुई। वे जंगलमें ही तपस्या करके मुक्त हो गये। इन्द्रने उस बालकका नाम रखा त्रसद्दस्यु; क्योंकि रावणादि दस्यु (लुटेरे) उससे भयभीत रहते थे और इन्द्रने जो जन्मके समय कह दिया था—**'मां धाता'** अतः बालक मान्धाता नामसे भी जगत्‌में प्रसिद्ध हुआ। मान्धाताजी चक्रवर्ती राजा हुए। भगवान्‌के तेजसे तेजस्वी होकर उन्होंने अकेले ही सातों द्वीपवाली पृथ्वीका शासन किया। वे यद्यपि आत्मज्ञानी थे तथा कर्मकाण्डकी उन्हें कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी, फिर भी उन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे यज्ञपुरुष प्रभुकी आराधना की। परमयोगी मुचुकुन्दजी इन्हींके पुत्र थे।

श्रीपिप्पलादजी

ये महर्षि दधीचिके पुत्र थे। जिस समय देवताओंकी याचनापर श्रीदधीचिजीने अपनी अस्थियाँ उनको प्रदान कीं, ऋषि-पत्नी सुवर्चा उस समय आश्रमसे कहीं बाहर गयी हुई थीं। जब वे आश्रममें आयीं और देवताओंकी स्वार्थपरतासे पतिकी मृत्युका समाचार उन्होंने सुना तो उन्हें बड़ा दु:ख हुआ और उस पतिव्रताने पतिलोक जानेका विचारकर पवित्र लकड़ियोंद्वारा एक चिता तैयार की। उसी समय श्रीशिवजीकी प्रेरणासे आकाशवाणी हुई कि—प्राज्ञे! ऐसा साहस मत करो, तुम्हारे उदरमें मुनिका तेज वर्तमान है। तुम उसे यत्नपूर्वक पहले उत्पन्न करो, पीछे तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करना; क्योंकि शास्त्रका ऐसा आदेश है कि गर्भवतीको सती नहीं होना चाहिये। उसे सुनकर वह मुनिपत्नी क्षणभरके लिये विस्मयमें पड़ गयी। परंतु उस सती साध्वी सुवर्चाको तो पतिलोककी प्राप्ति ही अभीष्ट थी, अत: उसने अपने उदरको विदीर्णकर दिव्य स्वरूपधारी अपने पुत्रको पीपलके समीप रख दिया और स्वयं स्वामीमें चित्त लगाकर अग्निको प्रणामकर चितामें प्रवेश किया और पतिसहित दिव्यलोकको चली गयीं।

पीपलके वृक्षोंने उस बालकका पालन किया था, इसलिये आगे चलकर वह पिप्पलाद नामसे प्रसिद्ध हुआ। ये भगवान् शिवके अंशसे प्रादुर्भूत हुए थे। पिप्पलादजीने उसी अश्वत्थके नीचे लोकोंकी हितकामनासे महान् तप किया था। वह स्थल आज भी पिप्पलतीर्थ एवं अश्वत्थतीर्थके नामसे प्रसिद्ध है। (मा० पु०, शि० पु०) प्रश्नोपनिषद्में वर्णन आता है कि भरद्वाजपुत्र सुकेशा, शिविकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्रोत्पन्न सौर्यायणी, कोसलदेशीय आश्वलायन, विदर्भनिवासी भार्गव और कत्यऋषिके प्रपौत्र कबन्धी—ये सबके सब परब्रह्मकी खोज करते हुए हाथमें समिधा लेकर भगवान् पिप्पलाद ऋषिके पास गये। तब श्रीपिप्पलादजीने उन लोगोंको श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए तप करनेको कहा। आपका कथन है—**'तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।'** (प्रश्न०) अर्थात् जिनमें तप और ब्रह्मचर्य है, जिनमें सत्य प्रतिष्ठित है; उन्हींको ब्रह्मलोक मिलता है।

श्रीनिमिजी

ये महाराज इक्ष्वाकुके पुत्र थे और महर्षि गौतमके आश्रमके समीप वैजयन्त नामक नगर बसाकर वहाँका राज्य करते थे। एक बार निमिने एक सहस्र वर्षमें समाप्त होनेवाले एक यज्ञका आरम्भ किया और उसमें श्रीवसिष्ठजीको ऋत्विजके रूपमें वरण किया। श्रीवसिष्ठजीने कहा कि पाँच सौ वर्षके यज्ञके लिये इन्द्रने मुझे पहले ही वरण कर लिया है। अत: इतने समयतक तुम ठहर जाओ। राजाने कुछ उत्तर नहीं दिया, इससे वसिष्ठजीने यह समझकर कि राजाने उनका कथन स्वीकार कर लिया है, इन्द्रका यज्ञ कराने चले गये। विचारवान् निमिने यह सोचकर कि शरीर तो क्षणभंगुर है, अत: विलम्ब करना उचित नहीं है, उसी समय महर्षि गौतमादि अन्य होताओंद्वारा यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। इन्द्रका यज्ञ समाप्त होते ही, 'मुझे निमिका यज्ञ कराना है' इस विचारसे वसिष्ठजी तुरंत ही आ गये। राजा उस समय सो रहे थे। यज्ञमें अपने स्थानपर गौतमको होताका कर्म करते देखकर वसिष्ठजीने सोते हुए राजाको शाप दे दिया कि इसने मेरी अवज्ञा करके सम्पूर्ण कर्मका भार गौतमको सौंपा है, इसलिये यह देहहीन हो जाय।

वसिष्ठजीने शाप दिया है, यह जानकर राजा निमिने भी उनको शाप दे दिया कि गुरुने मुझसे बिना बातचीत किये अज्ञानतापूर्वक मुझ सोये हुए को शाप दिया है, इसलिये उनकी भी देह नष्ट हो जायगी। इस प्रकार शाप देकर राजाने शरीर छोड़ दिया। महर्षि गौतम आदिने निमिके शरीरको तैल आदिमें रखकर उसे यज्ञकी समाप्तितक सुरक्षित रखा।

यज्ञकी समाप्तिपर जब देवतालोग अपना भाग ग्रहण करनेके लिये आये तब ऋत्विजोंने कहा कि यजमानको वर दीजिये। देवताओंके पूछनेपर कि क्या वर चाहते हो, निमिने सूक्ष्म शरीरके द्वारा कहा कि देह धारण करनेपर उससे वियोग होनेमें बहुत दुःख होता है। इसलिये मैं देह नहीं चाहता। समस्त प्राणियोंके नेत्रोंपर मेरा निवास हो। देवताओंने यही वर दिया। तभीसे लोगोंकी पलकें गिरने लगीं।

देवताओंने आशीर्वाद दिया कि राजा निमि बिना शरीरके ही प्राणियोंके नेत्रोंपर अपनी इच्छाके अनुसार निवास करें। वे वहाँ रहकर सूक्ष्म शरीरसे भगवान्‌का चिन्तन करते रहें। पलक उठने और गिरनेसे उनके अस्तित्वका पता चलता रहेगा। इसके बाद महर्षियोंने यह सोचकर कि राजाके न रहनेपर लोगोंमें अराजकता फैल जायगी। निमिके शरीरका मन्थन किया, उस मन्थनसे एक कुमार उत्पन्न हुआ। जन्म लेनेके कारण उसका नाम 'जनक' हुआ—विदेहसे उत्पन्न होनेके कारण 'वैदेह' और मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण उसी बालकका नाम 'मिथिल' हुआ। उसीने मिथिलापुरी बसायी। यथा—**'जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः। मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता॥'** (भा०) इस वंशके सभी राजा आत्मविद्याश्रयी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होते आये हैं। मुनियोंके आशीर्वादसे यह वंश सदासे योगी, ज्ञानी और भक्त रहा है। इसी कुलमें श्रीशीरध्वज जनकके यहाँ आदिशक्ति श्रीसीताजीने अवतार लिया था।

श्रीभरद्वाजजी

श्रीभरद्वाजजी श्रीरामचरणकमलानुरागी संत थे। इनकी भगवद्भक्ति लोकप्रसिद्ध है। भगवद्भक्तिका इन्हें आदिस्रोत कहें तो अत्युक्ति न होगी। श्रीरामायणजीकी कथाका प्रचार तो इनके ही द्वारा हुआ। ये श्रीगंगा-यमुनाजीके परम पावन संगमपर प्रयागराजमें रहते थे—

भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिन्हहि रामपद अति अनुरागा॥

प्रत्येक मकरमें समस्त ऋषि कल्पवास करने आते थे और इन्हींके आश्रममें आकर ठहरते थे। एक बार याज्ञवल्क्य ऋषिको इन्होंने आग्रहपूर्वक कुछ दिनके लिये और रख लिया। रखा था भगवत्कथा सुननेके लिये। इसलिये उनकी विधिवत् पूजा करके बोले—

नाथ एक संसउ बड़ मोरें। करगत बेदतत्त्व सबु तोरें॥
कहत सो मोहि लागत भय लाजा। जौं न कहउँ बड़ होइ अकाजा॥
एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥
नारि बिरहँ दुखु लहेउ अपारा। भयउ रोषु रन रावनु मारा॥
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्बग्य तुम्ह कहहु बिबेकु बिचारि॥

याज्ञवल्क्यजी सुनकर हँस पड़े। महामुनि भरद्वाज और उन्हें सन्देह! यह तो असम्भव है। जगत्‌के हितके लिये ये रामकथा सुनना चाहते हैं, जिससे सभी रामकथाको बार-बार सुनें। अतः वे हँसकर बोले—***'चतुराई तुम्हारि मैं जानी'***—

चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा॥

तब याज्ञवल्क्यजीने समस्त कथा सुनायी। वही रामसुरसरिधारा श्रीरामायण हुई, जो त्रैलोक्यको पावन करनेमें समर्थ हुई।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी वनवासके समय सर्वप्रथम इन्हींके आश्रमपर आये। इन्होंने प्रार्थना की कि चौदह वर्षतक यहीं रहिये। भगवान्‌ने कहा—'यहाँसे अवध समीप है, रोज भीड़ लगी रहेगी।' इनकी आज्ञा लेकर

भगवान् इनके बताये हुए स्थान चित्रकूटपर चले गये।

भरतजी जब श्रीरामजीकी खोजमें आये तो इन्होंने उनका इतना भारी स्वागत-सत्कार किया कि वे आश्चर्यमें पड़ गये। श्रीरामजीसे भी अधिक इन्होंने उनका सत्कार किया और स्पष्ट कह दिया—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

भरतजी लज्जित हुए। मुनिने उनपर अनन्त प्रेम दरसाया—***'राम तें अधिक राम कर दासा।'***

महामुनि भरद्वाज श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ऋषि थे। इनकी एक कन्या याज्ञवल्क्यजीको विवाही थी, दूसरी विश्रवामुनिको, जिनके पुत्र कुबेरजी हुए। ये अद्वितीय रामानुरागी थे।

श्रीदक्षजी

'दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भवः' (भा०) अर्थात् दक्षजी ब्रह्माजीके अँगूठेसे उत्पन्न हुए। स्वायम्भुव मनुकी कन्या प्रसूति दक्षपत्नी हुईं। प्रजापति दक्षने क्षीरसागरके उत्तर तटपर स्थित होकर देवी जगदम्बिकाको पुत्री रूपमें प्राप्त करनेकी इच्छा तथा उनके प्रत्यक्ष दर्शनकी कामनासे उन्हें हृदयमन्दिरमें विराजमान करके कठिन तप किया। उनकी सात्त्विक आराधनासे सन्तुष्ट होकर पराम्बाने दर्शन देकर पुत्री होनेका वचन दिया, साथ ही यह भी कह दिया कि यदि कभी मेरे प्रति तुम्हारा आदरभाव घट जायगा, तब उसी समय मैं अपने शरीरको त्यागकर अपने स्वरूपमें लीन हो जाऊँगी। दक्ष यह सोचकर बहुत प्रसन्न रहने लगे कि देवी शिवा मेरी पुत्री होनेवाली हैं।

सृष्टिविस्तारार्थ ब्रह्माजीकी आज्ञासे दक्षप्रजापतिने पंचजनप्रजापतिकी असिक्नी नामकी कन्याको पत्नी-रूपमें स्वीकारकर हर्यश्वसंज्ञक दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। पिताकी आज्ञासे उत्तम सृष्टिके उद्देश्यसे वे हर्यश्वगण नारायणसरोवरपर जाकर तप करने लगे। इन्हें अधिकारी जानकर देवर्षि नारदजीने आत्मतत्त्वका उपदेश देकर निवृत्तिपरायण बना दिया। तत्पश्चात् दक्षने शबलाश्वसंज्ञक एक हजार पुत्र उत्पन्न किये, परंतु श्रीनारदजीने इन्हें भी पूर्ववत् ही परमार्थ-पथका पथिक बना दिया। अबकी बार दक्षने कुपित होकर श्रीनारदजीको शाप दे दिया कि आजसे तीनों लोकोंमें विचरते हुए तुम्हारा पैर कहीं स्थिर नहीं रहेगा। नारदजीने इसे भगवान्‌की इच्छा ही मानकर शाप शिरोधार्य कर लिया।

श्रीदक्षजीने प्रसूतिके गर्भसे चौबीस कन्याएँ उत्पन्न करके उन्होंने बड़ी प्रथम तेरह कन्याएँ धर्मको ब्याह दीं, शेष ग्यारहमेंसे एक अग्निको, एक शिवको, एक पितृगणको ब्याह दी और अन्य आठ मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, भृगु—इन आठ प्रजातियोंको ब्याह दीं। प्रसूतिकी कन्याओंद्वारा विशाल वंश-परम्परा त्रिलोकीमें फैल गयी। प्रजाकी वृद्धिका कार्य जैसा दक्षद्वारा हुआ, ऐसा किसीसे न हुआ। इसलिये ब्रह्माजीने इन्हें प्रजापतियोंका नायक बना दिया।

अति प्राचीनकालमें एक बार विश्वस्रष्टाओंने एक यज्ञ किया था, जिसमें समस्त परमर्षि, देवता, मुनि और अग्नि आदि अपने-अपने अनुयायियोंसहित आकर उपस्थित हुए। जब सूर्यके समान तेजस्वी दक्ष उस समय वहाँ आये तो दक्षको देखकर उनके तेजसे प्रभावित और धर्षितचित्त होकर श्रीशिवजी और ब्रह्माजीको छोड़कर अन्य सभी देवगण, ऋषिगण आदि सदस्यगणोंने अपने आसनोंसे उठकर सम्मान किया। दक्ष अपने पिता ब्रह्माजीको प्रणामकर और उनकी आज्ञा पाकर उनके दिये हुए आसनपर बैठ गये। दक्षने यह देखा कि शिवजी आसनपर बैठे ही रहे, उठकर उन्होंने सम्मान नहीं किया। उनके इस व्यवहारसे अपना अपमान समझकर क्रूर दृष्टिसे उनकी

ओर देखा और इस महासभामें ही उनको बहुत दुर्वचन कहे और पछताने लगे कि मैंने केवल ब्रह्माजीके कहनेसे ही ऐसे पुरुषको अपनी सुन्दरी साध्वी भोली-भाली कन्या दे दी। दुर्वचन कहकर दक्षने श्रीशिवजीको शाप भी दिया कि देवयज्ञोंमें इन्द्र-उपेन्द्र आदि देवगणोंके साथ वे यज्ञका भाग न पायें। श्रीशिवजी कुछ भी न बोले। शाप देकर अत्यन्त क्रुद्ध हो दक्ष सभासे निकलकर अपने स्थानको चले गये।

यह जानकर कि दक्षने शाप दिया है, नन्दीश्वरको बड़ा ही क्रोध हुआ और उन्होंने दक्ष तथा उन ब्राह्मणोंको, जिन्होंने दक्षके कुवाक्योंका अनुमोदन किया था, घोर प्रतिशाप दिया कि यह दक्ष देहाभिमानी है, देहको ही आत्मा समझता है, अविद्याको विद्या जानता है। विषय—सुखवासनाओंमें आसक्त होकर कर्मकाण्डमें रत रहता है। अतएव यह जड़ पशु है, पशुओंके समान यह स्त्रीलम्पट हो और इसका मुख शीघ्र बकरेका हो। यह सदा तत्त्वज्ञानसे विमुख रहे। इस प्रकार परस्पर शाप देनेके बाद श्रीशिवजी भी अपने गणोंसहित वहाँसे चल दिये। कालान्तरमें दक्षने रुद्रका अपमान करनेके लिये ही बृहस्पतिसव नामक यज्ञ किया। यज्ञमें शिवका अपमान देखकर सतीने शरीरत्याग कर दिया। सतीके तन-त्यागको सुनकर श्रीशिवके गणोंने दक्षका यज्ञ विध्वंस कर दिया। शिवजीका अपमान करनेवाले देवताओं तथा सदस्योंको समुचित दण्ड दिया। गणनायक वीरभद्रने दक्षके सिरको मरोड़कर धड़से अलगकर यज्ञकी दक्षिणाग्निमें डाल दिया, मानो इससे होमकुण्डकी पूर्णाहुति की। अन्तमें यज्ञशालाको जलाकर शम्भुगण कैलासको लौट आये।

श्रीब्रह्माजीकी सलाहसे सभी देवता ब्रह्माजीको भी साथ लेकर कैलासपर गये, स्तुति और प्रार्थना करके भगवान् शिवको प्रसन्न किया। श्रीशिवजीने कहा—

नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये।
देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया॥

अर्थात् प्रजापते! भगवान्‌की मायासे मोहित हुए दक्ष-जैसे नासमझोंके अपराधकी न तो मैं चर्चा करता हूँ और न याद ही। मैंने तो केवल सावधान करनेके लिये ही थोड़ा-सा दण्ड दे दिया। तत्पश्चात् शिवाज्ञानुसार दक्षके धड़से बकरेका सिर जोड़ दिया गया। श्रीशिवजीकी कृपासे दक्ष सोकर जागे हुए के समान जी उठे। दक्षका हृदय शुद्ध हो चुका था, श्रीशिवके प्रति श्रद्धाका सिन्धु उमड़ पड़ा और बड़े ही विनीत भावसे उन्होंने शिवकी स्तुति की। इसके बाद पुनः यज्ञारम्भ किया गया, जिसमें यज्ञपुरुष भगवान् विष्णुने साक्षात् प्रकट होकर दक्षको ज्ञानोपदेश देते हुए शिव-ब्रह्मा तथा स्वयंमें तात्त्विक एकताका निरूपण किया। सबने भगवान्‌की स्तुति की। यज्ञ सानन्द सम्पन्न हुआ।

मैंने इस शरीरसे शिवका अपमान किया है—यह विचारकर ग्लानिमें भरकर प्रजापति दक्षने अपना वह शरीर त्यागकर प्रचेतागणकी मारिषा नामकी पत्नीके गर्भसे पुनः जन्म लिया। इन्होंने जन्म लेते ही अपनी कान्तिसे समस्त तेजस्वियोंका तेज छीन लिया। श्रीब्रह्माजीने इन्हें पुनः प्रजापतियोंके नायक पदपर अभिषिक्त कर दिया। ये कर्म करनेमें बड़े दक्ष थे, इसीसे इनका नाम दक्ष हुआ। भगवदराधनपूर्वक इन्होंने सृष्टिका विस्तार एवं संरक्षण किया।

महर्षि श्रीशरभंगजी

तपोभूमि दण्डकारण्य-क्षेत्रमें अनेकानेक ऊर्ध्वरेता ब्रह्मवादी ऋषियोंने घोर तपस्याएँ की हैं। कठिन योगाभ्यास एवं प्राणायामादिद्वारा संसारके समस्त पदार्थोंसे आसक्ति, ममता, स्पृहा एवं कामनाका समूल नाश करके अपनी उग्र तपस्याद्वारा समस्त इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय प्राप्त करनेवाले अनेकानेक ऋषियोंमेंसे शरभंगजी भी एक थे।

अपनी उत्कट तपस्याद्वारा इन्होंने ब्रह्मलोकपर विजय प्राप्त कर ली थी। देवराज इन्द्र इन्हें सत्कारपूर्वक ब्रह्मलोकतक पहुँचानेके निमित्त आये। इन्होंने देखा कि पृथ्वीसे कुछ ऊपर आकाशमें देवराजका रथ खड़ा है। बहुत-से देवताओंसे घिरे वे उसमें विराजमान हैं। सूर्य एवं अग्निके समान उनकी शोभा है। देवांगनाएँ उनकी स्वर्ण-दण्डिकायुक्त चमरोंसे सेवा कर रही हैं। उनके मस्तकपर श्वेत छत्र शोभायमान है। गन्धर्व, सिद्ध एवं अनेक ब्रह्मर्षि उनकी अनेक उत्तमोत्तम वचनोंद्वारा स्तुति कर रहे हैं। ये इनके साथ ब्रह्मलोककी यात्राके लिये तैयार ही थे कि इन्हें पता चला कि राजीवलोचन कोसलकिशोर श्रीराघवेन्द्र रामभद्र भ्राता लक्ष्मण एवं भगवती श्रीसीताजीसहित इनके आश्रमकी ओर पधार रहे हैं। ज्यों-ही भगवान् श्रीरामके आगमनका शुभ समाचार इनके कानोंमें पहुँचा, त्यों-ही तपःपूत अन्तःकरणमें भक्तिका संचार हो गया। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'अहो! लौकिक और वैदिक समस्त धर्मोंका पालन जिन भगवान्‌के चरण-कमलोंकी प्राप्तिके लिये ही किया जाता है—वे ही भगवान् स्वयं जब मेरे आश्रमकी ओर पधार रहे हैं, तब उन्हें छोड़कर ब्रह्मलोकको जाना तो सर्वथा मूर्खता है। ब्रह्मलोकके प्रधान देवता तो मेरे यहाँ ही आ रहे हैं—तब वहाँ जाना निष्प्रयोजनीय ही है। अतः मन-ही-मन यह निश्चयकर कि 'तपस्याके प्रभावसे मैंने जिन-जिन अक्षय लोकोंपर अधिकार प्राप्त किया है, वे सब मैं भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित करता हूँ' इन्होंने देवराज इन्द्रको विदा कर दिया।

ऋषि शरभंगजीके अन्तःकरणमें प्रेमजनित विरह-भावका उदय हो गया—

'चितवत पंथ रहेउँ दिन राती।'

वे भगवान् श्रीरामकी अल्प-कालकी प्रतीक्षाको भी युग-युगके समान समझने लगे। 'भगवान् श्रीरामके सम्मुख ही मैं इस नश्वर शरीरका त्याग करूँगा'—इस दृढ़ संकल्पसे वे भगवान् रामकी क्षण-क्षण प्रतीक्षा करने लगे।

कमल-दल-लोचन श्यामसुन्दर भगवान् श्रीराम इनके आश्रमपर पधारे ही। सीता-लक्ष्मणसहित रघुनन्दनको मुनिवरने देखा। उनका कण्ठ गद्‌गद हो गया। वे कहने लगे—

चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥
नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥

भगवान् श्रीरामको देखते ही प्रेमवश इनके लोचन भगवान्‌के रूप-सुधा-मकरन्दका साग्रह पान करने लगे। इनके नेत्रोंके सम्मुख तो वे थे ही—अपने प्रेमसे इन्होंने उन्हें अपने अन्तःकरणमें भी बैठा लिया—

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हियँ बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम॥

भगवान्‌को अपने अन्तःकरणमें बैठाकर मुनि योगाग्निसे अपने शरीरको जलानेके लिये तत्पर हो गये। योगाग्निने इनके रोम, केश, चमड़ी, हड्डी, मांस और रक्त—सभीको जलाकर भस्म कर डाला। अपने नश्वर शरीरको नष्टकर वे अग्निके समान तेजोमय शरीरसे उत्पन्न हुए। परम तेजस्वी कुमारके रूपमें वे अग्नियों, महात्मा ऋषियों और देवताओंके भी लोकोंको लाँघकर दिव्य धामको चले गये।

श्रीसंजयजी

श्रीमद्भगवद्गीतामें संजय प्रधान व्यक्ति हैं। संजयके मुखसे ही श्रीमद्भगवद्गीता धृतराष्ट्रने सुनी थी। संजय विद्वान् गावल्गण नामक सूतके पुत्र थे। ये बड़े शान्त, शिष्ट, ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न, सदाचारी, निर्भय, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, स्पष्टभाषी और श्रीकृष्णके परम भक्त तथा उनको तत्त्वसे जाननेवाले थे।

अर्जुनके साथ संजयकी लड़कपनसे मित्रता थी; इसीसे अर्जुनके उस अन्तःपुरमें, जहाँ अभिमन्यु और नकुल-सहदेवका भी प्रवेश निषिद्ध था, संजयको प्रवेश करनेका अधिकार था। जिस समय संजय कौरवोंकी ओरसे पाण्डवोंके यहाँ गये थे, उस समय अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण अन्तःपुरमें थे। वहीं देवी द्रौपदी और महाभागा सत्यभामाजी भी थीं। संजयने वापस जाकर वहाँका वर्णन सुनाते हुए धृतराष्ट्रसे कहा था—'मैंने अर्जुनके अन्तःपुरमें जाकर देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें रखे हुए हैं तथा अर्जुनके चरण द्रौपदी और सत्यभामाकी गोदमें हैं। अर्जुनने बैठनेके लिये एक सोनेका पादपीठ (पैर रखनेकी चौकी) मेरी ओर सरका दी। मैं उसे हाथसे स्पर्श करके जमीनपर बैठ गया। उन दोनों महापुरुषोंको इस प्रकार अत्यन्त प्रेमसे एक आसनपर बैठे देखकर मैं समझ गया कि ये दोनों जिनकी आज्ञामें रहते हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरके मनका संकल्प ही पूरा होगा।'

महाभारत-युद्ध आरम्भ होनेसे पूर्व त्रिकालदर्शी भगवान् व्यासने धृतराष्ट्रके पास जाकर युद्धका अवश्यम्भावी होना बतलाते हुए यह कहा कि 'यदि तुम युद्ध देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ।' धृतराष्ट्रने अपने कुलका नाश देखनेकी अनिच्छा प्रकट की; पर श्रीवेदव्यासजी जानते थे कि इससे युद्धकी बातें जाने-सुने बिना रहा नहीं जायगा। अतएव वे संजयको दिव्य दृष्टि देकर कहने लगे कि 'युद्धकी सब घटनाएँ संजयको मालूम होती रहेंगी, वह दिव्य दृष्टिसे सर्वज्ञ हो जायगा और प्रत्यक्ष-परोक्ष या दिन-रातमें जहाँ जो कोई घटना होगी—यहाँतक कि मनमें चिन्तन की हुई भी सारी बातें संजय जान सकेगा।' (महा० भीष्म० अ० २) तदनुसार संजयने पहले दोनों ओरकी सेनाओंका वर्णन करके फिर गीता सुनाना आरम्भ किया। गीता भीष्मपर्वके २५ वेंसे ४२वें अध्यायतक है। इसके बाद जब कौरवोंके प्रथम सेनापति भीष्मपितामह दस दिनोंतक घमासान युद्ध करके एक लाख महारथियोंको अपार सेनासहित वध करनेके उपरान्त अर्जुनके द्वारा आहत होकर शरशय्यापर पड़ गये, तब संजयने आकर यह समाचार धृतराष्ट्रको सुनाया, तब भीष्मके लिये शोक करते हुए धृतराष्ट्रने संजयसे युद्धका सारा हाल पूछा।

महर्षि व्यास, संजय, विदुर और भीष्म आदि कुछ ही ऐसे महानुभाव थे, जो भगवान् श्रीकृष्णके यथार्थ स्वरूपको पहचानते थे। धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजयने कहा था कि 'मैं स्त्री-पुत्रादिके मोहमें पड़कर अविद्याका सेवन नहीं करता, मैं भगवान्‌के अर्पण किये बिना (वृथा) धर्मका आचरण नहीं करता, मैं शुद्ध भाव और भक्तियोगके द्वारा ही जनार्दन श्रीकृष्णके स्वरूपको यथार्थ जानता हूँ।' भगवान्‌का स्वरूप और पराक्रम बतलाते हुए संजयने कहा—'उदारहृदय श्रीवासुदेवके चक्रका मध्यभाग पाँच हाथ विस्तारवाला है, परंतु भगवान्‌के इच्छानुकूल वह चाहे जितना बड़ा हो सकता है। वह तेज-पुंजसे प्रकाशित चक्र सबके सारासार बलकी थाह लेनेके लिये बना है। वह कौरवोंका संहारक है और पाण्डवोंका प्रियतम है। महाबलवान् श्रीकृष्णने लीलासे ही भयानक राक्षस नरकासुर, शंखसुर, अभिमानी कंस और शिशुपालका वध कर दिया था। परम ऐश्वर्यवान् सुन्दर-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण मनके संकल्पसे ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गको अपने वशमें कर सकते हैं।'''एक ओर सारा जगत् हो और दूसरी ओर अकेले श्रीकृष्ण हों तो साररूपमें वही उस सबसे अधिक ठहरेंगे। वे अपनी इच्छामात्रसे ही जगत्‌को भस्म कर सकते हैं; परंतु उनको भस्म करनेमें सारा विश्व भी समर्थ नहीं है—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥

'जहाँ सत्य, धर्म, ईश्वरविरोधी कार्यमें लज्जा और हृदयकी सरलता होती है, वहीं श्रीकृष्ण रहते हैं,

वहीं निःसन्देह विजय है।' सर्वभूतात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण लीलासे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गका संचालन किया करते हैं, वे श्रीकृष्ण सब लोगोंको मोहित करते हुए-से पाण्डवोंका बहाना करके तुम्हारे अधर्मी मूर्ख पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रभावसे काल-चक्र, जगत्-चक्र और युग-चक्रको सदा घुमाया (बदला) करते हैं। मैं यह सत्य कहता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु और स्थावर-जंगमरूप जगत्के एकमात्र अधीश्वर हैं। जैसे किसान अपने ही बोये हुए खेतको (पक जानेपर) काट लेता है, इसी प्रकार महायोगेश्वर श्रीकृष्ण समस्त जगत्के पालनकर्ता होनेपर भी स्वयं उसके संहारके लिये कर्म करते हैं। वे अपनी महामायाके प्रभावसे सबको मोहित किये रहते हैं, परंतु जो उनकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे मायासे कभी मोहको प्राप्त नहीं होते।

'ये त्वामेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः।'

इसके बाद धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्णके नाम और उनके अर्थ पूछे। तब परम भागवत संजयने कहा—'भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुण अपार हैं। मैं जो कुछ सुना-समझा हूँ, वही संक्षेपसे कहता हूँ। श्रीकृष्ण मायासे आवरण करते हैं और सारा जगत् उनमें निवास करता है तथा वे प्रकाशमान हैं—इससे उनको 'वासुदेव' कहते हैं। अथवा सब देवता उनमें निवास करते हैं, इसलिये उनका नाम 'वासुदेव' है। सर्वव्यापक होनेके कारण उनका नाम 'विष्णु' है। 'मा' यानी आत्माकी उपाधिरूप बुद्धि-वृत्तिको मौन, ध्यान या योगसे दूर कर देते हैं, इससे श्रीकृष्णका नाम 'माधव' है। मधु अर्थात् पृथ्वी आदि तत्त्वोंके संहारकर्ता होनेसे या वे सब तत्त्व इनमें लयको प्राप्त होते हैं, इससे भगवान्‌को 'मधुहा' कहते हैं। मधु नामक दैत्यका वध करनेवाले होनेके कारण श्रीकृष्णका नाम 'मधुसूदन' है। 'कृषि' शब्द सत्तावाचक है और 'ण' सुखवाचक है, इन दोनों धातुओंके अर्थरूप सत्ता और आनन्दके सम्बन्धसे भगवान्‌का नाम 'कृष्ण' हो गया है। अक्षय और अविनाशी परम स्थानका या हृदयकमलका नाम है पुण्डरीक। भगवान् वासुदेव उसमें विराजित रहते हैं और कभी उसका क्षय नहीं होता, इससे भगवान्‌को 'पुण्डरीकाक्ष' कहते हैं। दस्युओंका दलन करते हैं, इससे भगवान्‌का नाम 'जनार्दन' है। वे सत्त्वसे कभी च्युत नहीं होते और सत्त्व उनसे कभी अलग नहीं होता, इससे उनको 'सात्त्वत' कहते हैं। वृषभका अर्थ वेद है और ईक्षणका अर्थ है ज्ञापक अर्थात् वेदके द्वारा भगवान् जाने जाते हैं, इसलिये उनका नाम 'वृषभेक्षण' है। वे किसीके गर्भसे जन्म ग्रहण नहीं करते, इससे उनको 'अज' कहते हैं। इन्द्रियोंमें स्वप्रकाश हैं तथा इन्द्रियोंका अत्यन्त दमन किये हुए हैं, इसलिये भगवान्‌का नाम 'दामोदर' है। हर्ष, स्वरूप-सुख और ऐश्वर्य—तीनों ही भगवान् श्रीकृष्णमें हैं, इसीसे उनको 'हृषीकेश' कहते हैं। अपनी दोनों विशाल भुजाओंसे उन्होंने स्वर्ग और पृथ्वीको धारण कर रखा है, इसलिये वे 'महाबाहु' कहलाते हैं। वे कभी अधःप्रदेशमें क्षय नहीं होते, यानी संसारमें लिप्त नहीं होते, इसलिये उनका नाम 'अधोक्षज' है। नरोंके आश्रय होनेके कारण उन्हें 'नारायण' कहते हैं। वे सब भूतोंके पूर्ण कर्ता हैं और सभी भूत उन्हींमें लयको प्राप्त होते हैं, इसलिये उनको 'सर्व' कहा जाता है। श्रीकृष्ण सत्यमें हैं और सत्य उनमें है तथा वे गोविन्द व्यावहारिक सत्यकी अपेक्षा भी परम सत्यरूप हैं, इससे उनका नाम 'सत्य' है। चरणोंद्वारा विश्वको व्याप्त करनेवाले होनेसे 'विष्णु' और सबपर विजय प्राप्त करनेके कारण भगवान्‌को 'जिष्णु' कहते हैं। शाश्वत और अनन्त होनेसे उनका नाम 'अनन्त' है और गो यानी इन्द्रियोंके प्रकाशक होनेसे 'गोविन्द' कहे जाते हैं। वास्तवमें तत्त्वहीन (असत्य) जगत्‌को भगवान् अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे तत्त्व (सत्य)-सा बनाकर सबको मोहित करते हैं।'

यह संजयकी श्रीकृष्णभक्ति और श्रीकृष्ण-तत्त्व-ज्ञानका एक उदाहरण है।

श्रीशमीकजी

परम तपस्वी श्रीशमीकजी वनमें गौओंके रहनेके स्थानमें बैठते थे और गौओंका दूध पीते समय बछड़ोंके मुखसे जो फेन निकलता था, उसीको पीकर निरन्तर तपमें निरत रहते थे। ये परम शान्त, दान्त, तितिक्षु और क्षमाशील सन्त थे। वनमें शिकार खेलनेके लिये गये हुए राजा परीक्षित् भूख-प्याससे व्याकुल होकर इनके आश्रममें आये। परंतु मौन व्रत लेकर समाधिमें स्थित होनेके कारण ऋषिद्वारा राजाका समयोचित समुचित सत्कार न हुआ। क्षुधार्त, तृषार्त, अतः हतविवेक राजा परीक्षित् मुनिकी स्थितिको बिना समझे ईर्ष्या और क्रोधके वशीभूत हो धनुषकी कोरसे ऋषिके गलेमें मृतक सर्पको डालकर घर चले आये। जब ऋषिकुमार शृंगीको यह पता चला तो राजाके व्यवहारसे क्षुभित होकर उसने शाप दे दिया कि—'आजसे सातवें दिन राजा परीक्षित्‌को तक्षक नाग डँस लेगा।' जिस समय ब्रह्मर्षि शमीकको यह सब मालूम हुआ तो उन्होंने पुत्रका अभिनन्दन नहीं किया। उनकी दृष्टिमें परीक्षित् शापके योग्य नहीं थे। उन्होंने कहा—मूर्ख बालक! तूने थोड़ी-सी गलतीके लिये इतना बड़ा शाप देकर बहुत बड़ा अपराध किया। तुझे भगवत् स्वरूप राजाको साधारण मनुष्योंके समान नहीं समझना चाहिये। राजा ईश्वरका अंश होता है। यथा—**'नराणां च नराधिपः।'**

जिस समय राजाका रूप धारण करके भगवान् पृथ्वीपर नहीं दिखायी देंगे, उस समय अराजकतावश निरंकुश प्रजा मनमाना आचरण करने लग जायगी। तब उसके अपराधोंके साथ हमारा कोई सम्बन्ध न होनेपर भी वह हमपर लागू होगा। सम्राट् परीक्षित् तो बड़े यशस्वी और धर्मधुरन्धर हैं। उन्होंने बहुतसे अश्वमेध यज्ञ किये हैं और वे भगवान्‌के प्यारे भक्त हैं। वे ही राजर्षि भूख-प्याससे व्याकुल होकर हमारे आश्रमपर आये थे। वे शापके योग्य कदापि नहीं थे, इस नासमझ बालकने हमारे निष्पाप सेवक राजाका अपराध किया है, सर्वात्मा भगवान् कृपा करके इसे क्षमा करें। महामुनि शमीकको पुत्रके अपराधपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। राजा परीक्षित्‌ने जो उनका अपमान किया था, उसपर तो उनका ध्यान ही नहीं गया। यही साधु पुरुषोंके स्वभावकी विशेषता है। तत्पश्चात् महर्षि शमीकने अपने गौरमुख नामवाले परम संयमी शिष्यद्वारा राजाको शापकी सूचना भेजी तथा स्वयं राजाकी मंगलकामना की।

श्रीउत्तानपादजी

महाराज उत्तानपाद स्वायम्भुव मनुके ज्येष्ठ पुत्र थे। इनकी दो रानियाँ थीं—सुनीति और सुरुचि। परम भागवत ध्रुव इन्हीं महाराज उत्तानपादके पुत्र थे। इनका विवरण छन्द ९ में ध्रुवके प्रसंगमें आया है।

श्रीयाज्ञवल्क्यजी

ये ब्रह्माजीके अवतार हैं। एक समयकी बात है कि ब्रह्माजी एक यज्ञ कर रहे थे। ब्रह्माजीकी पत्नी सावित्रीजीको आनेमें देर हुई और शुभ मुहूर्त बीता जा रहा था। तब इन्द्रने एक गोपकन्याको लाकर कहा कि इसका पाणिग्रहणकर यज्ञ आरम्भ कीजिये। परंतु ब्राह्मणी न होनेके कारण उसको ब्रह्माने गौके मुखमें प्रविष्टकर योनिद्वारा निकालकर ब्राह्मणी बना लिया, क्योंकि ब्राह्मणका और गौका कुल शास्त्रमें एक माना गया है। फिर विधिवत् उसका पाणिग्रहणकर उन्होंने यज्ञारम्भ किया। यही गायत्री है। कुछ देरमें सावित्रीजी वहाँ पहुँचीं और ब्रह्माके साथ यज्ञमें दूसरी स्त्रीको बैठे देखकर उन्होंने ब्रह्माजीको शाप दिया कि तुम मनुष्यलोकमें जन्म लो और कामी हो जाओ। अपना सम्बन्ध ब्रह्मासे तोड़कर वे तपस्या करने चली गयीं। कालान्तरमें ब्रह्माजीने चारण ऋषिके यहाँ जन्म लिया और वहाँ उनका याज्ञवल्क्य नाम हुआ। तरुण होनेपर

वे शापवशात् अत्यन्त कामी हुए, जिससे पिताने उनको घरसे निकाल दिया। पागल-सरीखे भटकते हुए वे चमत्कारपुरमें शाकल्यऋषिके यहाँ पहुँचे और वहाँ उन्होंने वेदाध्ययन किया। एक समय आनर्त्त देशका राजा चातुर्मास्य व्रत करनेको वहाँ प्राप्त हुआ और उसने अपने पूजा-पाठके लिये शाकल्यको पुरोहित बनाया। शाकल्यऋषि नित्यप्रति अपने यहाँका एक विद्यार्थी पूजा-पाठ करनेको भेज देते थे।

एक बार याज्ञवल्क्यजीकी बारी आयी। यह पूजा आदि करके जब मन्त्राक्षत लेकर आशीर्वाद देने गये तब वह राजा विषयमें आसक्त था, अतः उसने कहा कि ये लकड़ी जो पास ही पड़ी है, इसपर अक्षत डाल दो। याज्ञवल्क्यजी अपमान समझकर क्रोधमें आ, आशीर्वादके मन्त्राक्षत काष्ठपर छोड़कर चले गये, दक्षिणा भी नहीं ली। मन्त्राक्षत पड़ते ही काष्ठमें शाखा-पल्लव आदि हो गये। यह देखकर राजाको बहुत पश्चात्ताप हुआ कि यदि यह अक्षत मेरे शिरपर पड़ते तो मैं अजर-अमर हो जाता। दूसरे दिन राजाने शाकल्यजीको कहला भेजा कि आज भी उसी शिष्यको भेजिये। परंतु उन्होंने कहा कि उसने हमारा अपमान किया है, इसलिये हम नहीं जायँगे। तब शाकल्यने कुछ दिन और विद्यार्थियोंको भेजा। राजा विद्यार्थियोंसे दूसरे काष्ठपर आशीर्वाद छुड़वा देता। परंतु किसीके मन्त्राक्षतसे काष्ठ हरा-भरा न हुआ। यह देखकर राजाने स्वयं जाकर आग्रह किया कि आप याज्ञवल्क्यको ही भेजें। परंतु इन्होंने साफ जवाब दे दिया। शाकल्यको इसपर क्रोध आ गया और उन्होंने कहा कि—**एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्। पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद् दत्त्वा चानृणी भवेत्॥** (स्कन्दपुराण) अर्थात् गुरु, जो शिष्यको एक भी अक्षर प्रदान करता है, पृथ्वीमें कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जो शिष्य देकर उससे उऋण हो जाय।

उत्तरमें याज्ञवल्क्यजीने कहा—'**गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथे वर्तमानस्य परित्यागो विधीयते॥**' (स्क० पु०) अर्थात् जो गुरु अभिमानी हो, कार्य-अकार्य (क्या करना उचित है, क्या नहीं)-को नहीं जानता हो, ऐसा दुराचारी, चाहे वह गुरु ही क्यों न हो, उसका परित्याग कर देना चाहिये। तुम हमारे गुरु नहीं, हम तुम्हें छोड़कर जाते हैं। यह सुनकर शाकल्यने अपनी विद्या लौटा देनेको कहा और अभिमन्त्रित जल दिया कि इसे पीकर वमन कर दो। याज्ञवल्क्यजीने वैसा ही किया। अन्नके साथ वह सब विद्या उगल दी। विद्या निकल जानेसे वे मूढ़बुद्धि हो गये। तब उन्होंने हाटकेश्वरमें जाकर सूर्यकी बारह मूर्तियाँ स्थापित करके सूर्यकी उपासना की। बहुत काल बीतनेपर सूर्यदेव प्रकट हुए और वर माँगनेको कहा। याज्ञवल्क्यजीने प्रार्थना की कि मुझे चारों वेद सांगोपांग पढ़ा दीजिये। सूर्यने कृपा करके इन्हें वह मन्त्र बतलाया जिससे वे सूक्ष्म रूप धारण कर सकें और कहा कि तुम सूक्ष्म शरीरसे मेरे रथके घोड़ेके कानमें बैठ जाओ, मेरी कृपासे तुम्हें ताप न लगेगा। मैं वेद पढ़ाऊँगा, तुम बैठे-बैठे सुनना। इस प्रकार याज्ञवल्क्यने सूर्यसे सांगोपांग चारों वेद पढ़ा। (स्कन्दपुराण)

श्रीमद्भागवतमें इनकी कथा इस प्रकार है—याज्ञवल्क्यजीने ऋग्वेदसंहिता वाष्कलमुनिसे और वाष्कलने पैलसे सुनी। पैलने श्रीव्यासजीसे पढ़ी थी। इसी प्रकार यजुर्वेदसंहिता व्यासजीने अपने शिष्य वैशम्पायनजीसे कही, वैशम्पायनजीसे याज्ञवल्क्यने पढ़ी थी। एक बार वैशम्पायनजीको ब्रह्महत्या लगी। हत्या लगनेका प्रसंग इस प्रकारसे है कि एक बार समस्त ऋषियोंने किसी विषयके सम्बन्धमें विचार करनेके लिये सुमेरुपर्वतपर एक सभा करनेका निश्चय किया। उसमें यह नियम किया कि जो ऋषि उस सभामें सम्मिलित नहीं होगा, उसको सात दिनके लिये ब्रह्महत्या लगेगी। उस दिन वैशम्पायनजीके पिताका श्राद्ध था, इसलिये वे अपनी नित्य क्रियाके लिये अँधेरेमें ही उठकर स्नानको जाने लगे तो एक बालकपर उनका पैर पड़ा और वह मर गया। इस बालहत्याके शोकसे वे सभामें न जा सके। इस प्रकार एक तो उन्हें बालहत्या लगी, दूसरे ब्रह्महत्या।

इन्हीं दोनों हत्याओंके निवारणार्थ वैशम्पायनजीने अपने सब शिष्योंसे प्रायश्चित्त करनेको कहा। तब उनके शिष्य चरकावध्वर्युने हत्या दूर करनेवाले व्रतका आचरण किया।

उस समय याज्ञवल्क्यजीने गुरु श्रीवैशम्पायनजीसे कहा—भगवन्! ये चरकाध्वर्यु ब्राह्मण तो बहुत ही थोड़ी शक्ति रखते हैं। इनके व्रत-पालनसे लाभ ही कितना है? मैं अकेला ही आपके प्रायश्चित्तके लिये बहुत ही कठिन तप करूँगा। यह सुनकर वैशम्पायनजी रुष्ट होकर बोले—मुझे ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाले ऐसे शिष्यसे कोई प्रयोजन नहीं है। तुमने अबतक मुझसे जो कुछ अध्ययन किया है, उसका शीघ्रसे शीघ्र त्याग कर दो और यहाँसे शीघ्र चले जाओ। याज्ञवल्क्यजीने यजु:श्रुतियोंको वमन कर दिया और वहाँसे चल दिये। उन वमनरूपसे पड़े हुए यजुर्वेदके अत्यन्त सुरम्य मन्त्रोंको देखकर अन्यान्य मुनियोंने लोलुपतावश तीतरका रूप धरकर उन्हें ग्रहण कर लिया। तीतररूप इसलिये धारण कर लिये कि ब्राह्मणरूपसे वमनको कैसे निगलेंगे? यही कारण है कि वह अत्यन्त मनोहर यजु:शाखा तैत्तिरीय शाखा कहलायी। तत्पश्चात् याज्ञवल्क्यने वैशम्पायन भी जिनको न जानते हों, ऐसी यजु:श्रुतियोंकी प्राप्तिके लिये सूर्यभगवान्‌की आराधना की। इनकी उपासनासे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्यने अश्वरूप धारणकर उनकी कामनानुसार उन्हें वैसी ही यजु:श्रुतियाँ प्रदान कीं। वही वाजसनेय शाखाके नामसे प्रसिद्ध है। वाजसनेयी संहिताके आचार्य होनेसे इनका नाम वाजसनेय भी हुआ।

एक बार मोक्षवित् जनकके पिता देवरातजीने यज्ञ किया। अध्वर्युकर्ममें जो प्रायश्चित्त आदि रहता है, उसे वैशम्पायनजी करा रहे थे। उसके करनेमें कुछ त्रुटि हो जानेसे यज्ञमें कुछ न्यूनता मालूम पड़ी। उस समय याज्ञवल्क्यजीने वैशम्पायनजीको टोका। तब जनक तथा वैशम्पायन दोनोंने इनसे प्रार्थना की कि उसकी पूर्ति करा दें। याज्ञवल्क्यजीने अपने वेदोंसे उस त्रुटिकी पूर्ति करायी। यज्ञ समाप्त होनेपर देवरातजीने जब वैशम्पायनको दक्षिणा दी तब याज्ञवल्क्यजीने उसका विरोध किया और कहा कि यह सब दक्षिणा हमको मिलनी चाहिये न कि वैशम्पायन को; क्योंकि यज्ञकी पूर्ति तो हमने अपने वेदोंसे करायी है, अन्तमें महर्षि देवलने वह दक्षिणा दोनोंमें आधी-आधी बँटवा दी। याज्ञवल्क्यजीने उनके कहनेसे स्वीकार कर लिया।

एक बार देवरातजीके पुत्र मोक्षवित् राजा जनकने ब्रह्मनिष्ठ ऋषियोंका समाज एकत्र किया और एक सहस्र सवत्सा गौओंको समलंकृतकर यह प्रतिज्ञा की कि जो ऋषि ब्रह्मनिष्ठ हो, वह हमारे प्रश्नोंका उत्तर दे और इन गौओंको ले जाय। सब ऋषि सोचने लगे कि ब्रह्मनिष्ठ तो हम सभी हैं, तब दूसरोंका अपमान करके हममेंसे कोई एक इन गायोंको कैसे ले जाय, इतनेमें याज्ञवल्क्यजी आये और उन्होंने यह कहते हुए कि मैं ब्रह्मनिष्ठ हूँ, अपने शिष्योंको आज्ञा दी कि इन गौओंको आश्रमपर ले जाओ। मैं इनके प्रश्नोंका उत्तर दूँगा। इसपर अन्य सब ब्रह्मनिष्ठ ऋषि बिगड़ गये। तब इन्होंने सबको परास्त किया। राजा जनक याज्ञवल्क्यजीके शिष्य हो गये।

श्रीतुलसीदासजीने भी इन्हें परम विवेकी कहा है। यथा—**'*जागबलिक मुनि परम बिबेकी।*'** (रा०च०मा० १।४५।४) सूर्यभगवान्‌से समस्त वेद-ज्ञान प्राप्त होनेके बाद लोग आपसे बड़े उत्कट प्रश्न किया करते थे। आपने सूर्यभगवान्‌से शिकायत की, तब उन्होंने वर दिया कि जो कोई तुमसे अतिप्रश्न करेगा तथा तुमसे वाद-विवाद करके तुम्हारे निश्चित किये यथार्थ सिद्धान्तपर भी वितण्डावाद करेगा, उसका सिर फट जायगा। वर्णन आया है कि शाकल्यऋषिने याज्ञवल्क्यजीका उपहास किया तो उनका सिर फट गया था। तभीसे सब लोग इनसे प्रश्न करनेमें डरने लगे। इन्होंने श्रीकाकभुशुण्डिजीसे श्रीरामचरित श्रवण किया है और महर्षि भरद्वाजको सुनाया है। यथा—***तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥*** (रा०च०मा० १।३०।५)

इस प्रकार पृथ्वीपर श्रीरामकथाके प्रचारमें इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है।

राजर्षि निमि और नौ योगीश्वर

कबि हरि करभाजन भक्ती रत्नाकर भारी।
अंतरिच्छ अरु चमस अननिता पधति उधारी॥
प्रबुध प्रेम की रासि भूरिदा आबिरहोता।
पिप्पल द्रुमिल प्रसिद्ध भवाब्धि पार के पोता॥
जयंति नंदन जगत के त्रिबिध ताप आमय हरन।
निमि अरु नव जोगेस्वरा पादत्रान की हौं सरन॥ १३॥

मैं राजा निमिजी और नौ योगीश्वरोंकी चरणपादुकाओंकी शरणमें हूँ। कवि, हरि और करभाजनजी भक्तिके अथाह समुद्र हैं। अन्तरिक्ष और चमसजी वैष्णव-उपासनामें अनन्यताकी परिपाटीको चलानेवाले हैं। प्रबुद्धजी प्रेमकी राशि हैं। आविर्होत्रजी ज्ञान और भक्तिके उदार दाता हैं। पिप्पलायनजी और द्रुमिलजी प्राणियोंको भवसागरसे पार करनेवाले प्रसिद्ध जहाज हैं। श्रीऋषभदेवजीकी पत्नी जयन्तीदेवीको आनन्दित करनेवाले उनके ये नौ पुत्र संसारके तीनों तापोंको तथा मानसिक रोगोंको हरनेवाले हैं॥ १३॥

कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन—ये नौ योगीश्वर हैं। ये भगवान् वासुदेवके अंशावतार श्रीऋषभदेवजीके पुत्र हैं। ये महाभागवत और भागवतधर्मके विज्ञाता हुए हैं। श्रीमद्भागवत-महापुराणके एकादश स्कन्धके दूसरेसे पाँचवें अध्यायतक इनका मिथिलाधिपति राजर्षि निमिसे संवाद वर्णित है, जिसमें इन योगीश्वरोंने महाराज निमिके पूछनेपर उनसे क्रमशः भागवतधर्म, भगवद्भक्तका लक्षण, मायाका स्वरूप, उससे पार होनेका उपाय, परब्रह्म परमात्मा नारायणका स्वरूप, कर्मयोग, भगवान्‌के अवतार और उनकी लीलाएँ, भक्तिहीन पुरुषोंकी गति और भगवान्‌की पूजा-विधिका वर्णन किया।

महाराज निमि और नौ योगीश्वरोंका यह पवित्र संवाद छप्पय १० में भी आया है।

श्रीनिमि और नौ योगीश्वरोंका संवाद

एक बारकी बात है—महाराज निमि बड़े-बड़े ऋषियोंके द्वारा एक महान् यज्ञ करा रहे थे। पूर्वोक्त नौ योगीश्वर (नौ योगीश्वरोंका वर्णन छन्द १० में आया है।) स्वच्छन्द विचरण करते हुए उनके यज्ञमें जा पहुँचे। सूर्यके समान तेजस्वी, परमानुरागी इन नौ योगीश्वरोंको देखकर राजा निमि और ऋत्विज आदि ब्राह्मण सबके सब स्वागतमें खड़े हो गये तथा उन्होंने प्रेम तथा आनन्दसे भरकर विधिपूर्वक इनकी पूजा की। तत्पश्चात् श्रीनिमिजीने कहा—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२।२९)

अर्थात् भगवन्! जीवोंके लिये मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि यह प्राप्त भी हो जाता है तो प्रतिक्षण मृत्युका भय सिरपर सवार रहता है; क्योंकि यह क्षणभंगुर है। इसलिये अनिश्चित मनुष्य-जीवनमें भगवान्‌के प्यारे और उनको प्यार करनेवाले भक्तजनोंका, सन्तोंका दर्शन तो और भी दुर्लभ है। हम आप

लोगोंसे यह जानना चाहते हैं कि जीवके परम कल्याणका स्वरूप क्या है और उसका साधन क्या है? तथा कृपा करके भागवतधर्मोंका भी वर्णन कीजिये।

श्रीनिमिके प्रश्नका अभिनन्दन करते हुए श्रीकविजी बोले—

मन्येऽकुतश्चिद् भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद् विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ३३)

अर्थात् राजन्! भक्तजनोंके हृदयसे कभी दूर न होनेवाले अच्युतभगवान्‌के चरणोंकी नित्य-निरन्तर उपासना ही इस संसारमें परम कल्याण—आत्यन्तिक क्षेम है और सर्वथा भयशून्य है। ऐसा मेरा निश्चित मत है, देह-गेहादि तुच्छ एवं असत् पदार्थोंमें अहंता एवं ममता हो जानेके कारण जिनकी चित्तवृत्ति उद्विग्न हो रही है, उनका भय भी इस उपासनाका अनुष्ठान करनेपर पूर्णतया निवृत्त हो जाता है।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ३६)

अर्थात् कल्याणकामी पुरुष शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे, अनेक जन्मों अथवा एक जन्मकी आदतोंसे स्वभाववश जो-जो करे, वह सब परमपुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे।

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ३९)

अर्थात् संसारमें भगवान्‌के जन्मकी और लीलाकी बहुत-सी मंगलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं, उनको सुनते रहना चाहिये। उन गुणों और लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले भगवान्‌के बहुतसे नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-संकोच छोड़कर उनका गान भी करते रहना चाहिये तथा सर्वत्र आसक्तिशून्य होकर विचरण करते रहना चाहिये।

खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

अर्थात् राजन्! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट हैं—ऐसा समझकर अनन्य भक्त प्राणि-मात्रको प्रणाम करता है।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४२)

अर्थात् जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति—ये तीनों एक साथ हो जाते हैं; वैसे ही जो मनुष्य भगवान्‌की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजनके प्रत्येक क्षणमें भगवान्‌के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—इन तीनोंकी एक साथ ही प्राप्ति होती जाती है।

भगवद्भक्तोंके सम्बन्धमें जिज्ञासा करनेपर श्रीहरिने कहा—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४५)

अर्थात् आत्मस्वरूप भगवान् समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे—नियन्तारूपसे स्थित हैं और साथ ही समस्त प्राणी और समस्त पदार्थ आत्मस्वरूप भगवान्‌में स्थित हैं। इस प्रकारका जिसका अनुभव है, उसे उत्तम भागवत समझना चाहिये।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।५३)

अर्थात् बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि भी अपने अन्तःकरणको भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं—भगवान्‌के ऐसे चरण-कमलोंसे आधे क्षण, आधे पलके लिये भी जो नहीं हटता, निरन्तर उन चरणोंकी सन्निधि और सेवामें संलग्न रहता है; यहाँतक कि कोई स्वयं उसे त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मी दे तो भी वह भगवत्स्मृतिका तार नहीं तोड़ता है, उस राज्यलक्ष्मीकी ओर ध्यान नहीं देता, वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त वैष्णवोंमें अग्रगण्य है।

श्रीनिमिजीकी जिज्ञासापर श्रीकरभाजनजीने चारों युगोंके ध्येय स्वरूपोंका वर्णन करते हुए कलियुगमें भगवन्नाम-संकीर्तनको सर्वश्रेष्ठ और सर्वसुलभ साधन बताया है। यही कारण है कि सतयुग, त्रेता और द्वापरकी प्रजा चाहती है कि हमारा जन्म कलियुगमें हो। आपका कथन है कि कलियुगमें भगवत्परायणभक्त बहुत होंगे। यथा—

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः॥

(श्रीमद्भा० ११।५।३८)

भगवच्छरणागतिकी महिमा वर्णन करते हुए श्रीकरभाजनजी कहते हैं कि—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

(श्रीमद्भा० ११।५।४१)

अर्थात् राजन्! जो मनुष्य 'यह करना बाकी है, वह करना आवश्यक है'—इत्यादि कर्म-वासनाओंका अथवा भेद-बुद्धिका परित्याग करके सर्वात्मभावसे शरणागतवत्सल, प्रेमके वरदानी भगवान् मुकुन्दकी शरणमें आ गया है; वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियोंके ऋणसे उऋण हो जाता है। वह किसीके अधीन, किसीका सेवक, किसीके बन्धनमें नहीं रहता।

श्रीअन्तरिक्षजीने मायाका विशद विवेचन किया है। दृश्यमान जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय मायाके ही कार्य हैं। यथा—**'एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी॥'** मायासे मोहित होकर ईश्वरांश, चेतन, अमल, अविनाशी, सहज सुखराशि जीव अनेक प्रकारकी कामनाओंसे युक्त होकर अनेकों कर्म, अकर्म, विकर्म करता है और उनके अनुसार शुभकर्मका फल सुख और अशुभ कर्मका फल दुःख भोगता है और विविध योनियोंमें जन्म लेकर इस संसारमें भटकने लगता है। यथा—**'कर्माणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि**

देहभृत्। तत्तत् कर्मफलं गृह्णन् भ्रमतीह सुखेतरम्॥'

श्रीचमसजीने विमुख जीवोंका अधःपतन वर्णन करते हुए उन्हें साधु पुरुषोंकी दयाका पात्र बताया है, यथा—

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥

(श्रीमद्भा० ११।५।१५)

अर्थात् यह शरीर मृतक-शरीर है, इसके सम्बन्धी भी इसके साथ ही छूट जाते हैं। जो लोग इस शरीरसे तो प्रेमकी गाँठ बाँध लेते हैं और दूसरे शरीरोंमें रहनेवाले अपने ही आत्मा एवं सर्वशक्तिमान् भगवान्से द्वेष करते हैं, उन मूर्खोंका अधःपतन निश्चित है। **'तेऽनुकम्प्या भवादृशाम्।'** अर्थात् वे आप-जैसे साधु पुरुषोंकी दयाके पात्र हैं।

भगवान्की दुरत्यया मायासे पार पानेके लिये उपाय-निरूपण करते हुए श्रीप्रबुद्धजी कहते हैं कि—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः॥

(श्रीमद्भा० ११।३।२१-२२)

अर्थात् इसलिये जो परम कल्याणका जिज्ञासु हो, उसे गुरुदेवकी शरण लेनी चाहिये। गुरुदेव ऐसे हों, जो शब्दब्रह्म—वेदोंके पारदर्शी विद्वान् हों, जिससे वे आश्रितको ठीक-ठीक समझा सकें तथा साथ ही परब्रह्ममें परिनिष्ठित तत्त्वज्ञानी भी हों, ताकि अपने अनुभवके द्वारा प्राप्त हुई रहस्यकी बातोंको बता सकें। उनका चित्त शान्त हो, विशेष व्यावहारिक प्रपंचमें प्रवृत्त न हों। जिज्ञासुको चाहिये कि गुरुको ही अपना परम प्रियतम आत्मा और इष्टदेव माने। उनकी निष्कपट भावसे सेवा करे और उनके पास रहकर भागवत-धर्मकी—भगवान्को प्राप्त करानेवाले भक्ति-भावके साधनोंकी क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करे। इन्हीं साधनोंसे सर्वात्मा और भक्तोंको अपने आत्माका दान करनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं। सन्त-सद्गुरुसमाश्रित साधकको चाहिये कि वह स्वयं राशि-राशि पापोंको नष्ट करनेवाले भगवान् श्रीहरिके महामंगलमय नामोंका स्मरण करे और एक-दूसरेको स्मरण कराये।

इस प्रकार साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते प्रेम-भक्तिका उदय हो जाता है, जिससे शरीरमें निरन्तर प्रेमके अष्टसात्त्विक भाव रोमांच आदि बने ही रहते हैं। यथा—**स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्। भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥** जो इस प्रकार भागवतधर्मोंकी शिक्षा ग्रहण करता है, उसे उनके द्वारा प्रेमलक्षणा-भक्तिकी प्राप्ति हो जाती है और वह भगवान् नारायणके पारायण होकर उस मायाको अनायास ही पार हो जाता है, जिसके पंजेसे निकलना बहुत ही कठिन है।

श्रीनिमिजीके कर्मयोगके सम्बन्धमें जिज्ञासा करनेपर श्रीआविर्होत्रजीने भगवत्सेवा-पूजारूप कर्मको परम कल्याणदायक बताया है। यथा—

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥

(श्रीमद्भा० ११।३।४७)

अर्थात् जो पुरुष चाहता है कि शीघ्रसे शीघ्र मेरे ब्रह्मस्वरूप आत्माकी हृदयग्रन्थि (मैं और मेरेकी

कल्पित गाँठ) खुल जाय, उसे चाहिये कि वह वैदिक और तान्त्रिक—दोनों ही पद्धतियोंसे भगवान्‌की आराधना करे। आराधना-विधिका संकेत करते हुए कहते हैं कि—

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः॥
गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम्॥

अर्थात् अपने-अपने उपास्यदेवके विग्रहकी हृदयादि अंग, आयुधादि उपांग और पार्षदोंके सहित मूलमन्त्रद्वारा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क, स्नान, वस्त्र, आभूषण, गन्ध, पुष्प, अक्षत (तिलकालंकारमें, अन्यथा नहीं—'**नाक्षतैरर्चयेद् विष्णुं**') अर्थात् दधि-अक्षतके तिलक, माला, धूप, दीप और नैवेद्य आदिसे विधिवत् पूजा करे तथा फिर स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करके सपरिवार भगवान् श्रीहरिको नमस्कार करे। ऐसा करनेसे वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। यथा—'**अचिरान्मुच्यते हि सः॥**' (श्रीमद्भा० ११।३।५५)

श्रीपिप्पलायनजीने भगवत्स्वरूपका निरूपण करते हुए भगवद्भक्तिका बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया। यथा—

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः॥

(श्रीमद्भा० ११।३।४०)

अर्थात् जब भगवान् कमलनाभके चरणकमलोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे तीव्र भक्ति की जाती है, तब वह भक्ति ही अग्निकी भाँति गुण और कर्मोंसे उत्पन्न हुए चित्तके सारे मलोंको जला डालती है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है—जैसे नेत्रोंके निर्विकार होनेसे सूर्यके प्रकाशकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है।

श्रीद्रुमिलजीने श्रीनिमिजीके पूछनेपर भगवान्‌के विविध अवतारोंका वर्णन किया है। आपका कहना है कि—भगवान् अनन्त हैं। उनके गुण भी अनन्त हैं। जो यह सोचता है कि मैं उनके गुणोंको गिन लूँगा, वह मूर्ख है, बालक है। यह तो सम्भव है कि कोई किसी प्रकार पृथ्वीके धूलिकणोंको गिन ले, परंतु समस्त शक्तियोंके आश्रय भगवान्‌के अनन्त गुणोंका कोई कभी किसी प्रकार पार नहीं पा सकता है। यथा—

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ताननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित् कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥

(श्रीमद्भा० ११।४।२)

नवधाभक्तिके आचार्य

श्रवन परीच्छित सुमति ब्यास सावक संकीरतन।
सुठि सुमिरन प्रहलाद पृथु पूजा कमला चरनन मन॥
बंदन सुफलक सुवन दास्य दीपत्ति कपीस्वर।
सख्यत्वे पारत्थ समर्पन आतम बलि धर॥
उपजीवी इन नाम के एते त्राता अगति के।
पद पराग करुना करौ (जे) नेता नवधा भगति के॥ १४॥

श्रवण आदि नौ प्रकारकी भक्तिके जो मुख्य आचार्य हैं, वे अपने चरणकमलोंकी रज देते हुए हम दयनीय दासोंपर करुणा (दया) करें। बुद्धिमान् परीक्षित्‌जी श्रवणभक्तिके तथा व्यासपुत्र शुकदेवजी कीर्तनभक्तिके आचार्य हैं, सुन्दर रूपके स्मरण करनेवालोंमें प्रह्लादजी, अष्टयाम भगवच्चरणसेवनमें मन देनेवालोंमें लक्ष्मीजी और विधिसमेत पूजन-भक्तिमें पृथुजी प्रधान हैं। वन्दनभक्तिमें श्वफल्क-पुत्र अक्रूरजी और दास्यभक्तिको प्रकाशित करनेवालोंमें श्रीहनुमान्‌जी सर्वश्रेष्ठ हैं। सख्यरसके उपासकोंमें अर्जुन और सर्वस्वसमेत आत्मसमर्पण करनेवालोंमें राजा बलि अग्रगण्य हैं। मैं नवधा भक्तिके इन आचार्योंके नामके आश्रित हूँ अर्थात् इनका नाम लेकर जीविका चलाता हूँ, जीवन धारण करता हूँ। ये जीवोंको नरकगमन आदि दुर्गतियोंसे बचाते हैं। इन श्रेष्ठ भागवतोंकी कृपासे ही नवधा भक्तिका आचरण सम्भव है॥ १४॥

परमभागवत श्रीप्रह्लादजी भक्तिके नौ प्रकारों (नवधा भक्ति)-का निरूपण करते हुए श्रीमद्भागवत (७।५।२३)-में कहते हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

अर्थात् भगवान् विष्णुकी भक्तिके नौ भेद हैं—भगवान्‌के गुण, लीला, नाम आदिका श्रवण; उन्हींका कीर्तन; उनके रूप, नाम आदिका स्मरण; उनके चरणोंकी सेवा; पूजा-अर्चा; वन्दन, दास्य; सख्य और आत्मनिवेदन।

नवधा भक्तिके आचार्योंका वर्णन निम्न श्लोकमें इस प्रकार किया गया है—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम्॥

अर्थात् भगवान् विष्णुकी श्रवण भक्तिमें राजर्षि परीक्षित्, कीर्तनमें व्यासजीके पुत्र श्रीशुकदेवजी, भगवत्स्मरणमें प्रह्लादजी, भगवान्‌के चरण-कमलोंकी सेवामें श्रीलक्ष्मीजी, पूजनमें आदिराज पृथु, चरण-कमलोंके वन्दनमें अक्रूरजी, दास्यभक्तिमें कपिराज श्रीहनुमान्‌जी, सख्यभक्तिमें नररूप श्रीअर्जुनजी और सर्वस्व-निवेदनमें श्रीबलिजी हुए हैं। इन सभीको भगवत्प्राप्ति हुई है।

नवधा भक्तिके इन आचार्योंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

श्रीपरीक्षित्‌जी

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज श्रीपरीक्षित्‌जीकी श्रवण-भक्तिकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

श्रवण रसिक कहूँ सुने न परीक्षित से पानहू करत लागी कोटि गुणी प्यास है।
मुनिमन माँझ क्यों हूँ आवत न ध्यावत हूँ वही गर्भमध्य देखि आयो रूप रास है॥
कही शुकदेव जू सों टेव मेरी लीजै जानि प्रान लागे कथा नहीं तक्षक को त्रास है।
कीजिये परीक्षा उर आनी मति सानी अहो बानी विरमानी जहाँ जीवन निरास है॥ ९७॥

जो भगवान्‌का गुणानुवाद सुनकर अपूर्व सुखका अनुभव करते हैं, ऐसे श्रवण-रसिक भक्त अनेकों हैं, पर परीक्षित्‌के समान श्रवण-रसिक भक्त सुननेमें नहीं आये। वे जैसे-जैसे कथारूपी अमृतका कर्णपुटोंसे पान करते थे, वैसे-ही-वैसे उनकी प्यास अर्थात् कथाश्रवणकी अभिलाषा करोड़ों गुनी बढ़ती जाती थी। समाधि लगाकर

निरन्तर ध्यान करनेपर मुनियोंके हृदयमें जो भगवान् नहीं आते हैं, उन्हीं रूपके समूह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन परीक्षित्‌जीने अपनी माताके गर्भमें ही किया था। श्रीमद्भागवतका कथाश्रवण करते हुए उन्होंने श्रीशुकदेवजीसे कहा कि आप हमारे स्वभावको जान लीजिये, मेरे प्राण कथामें लीन हो रहे हैं, मुझे साँपके डँसनेका भय बिलकुल नहीं है। आप चाहें तो परीक्षा लेकर देख लें। श्रीशुकदेवजीने मनमें मान लिया कि राजाकी बुद्धि कथामें लीन हो गयी है, राजाकी श्रवण-निष्ठा अनुपम है। सातवें दिन कथा कहकर जैसे ही शुकदेवजीकी वाणीने विश्राम किया, वैसे ही राजाने शरीर त्याग दिया॥ ९७॥

श्रीपरीक्षित्‌जीसे सम्बन्धित विवरण छप्पय १० में भी आया है।

श्रीशुकदेवजी

श्रीशुकदेवजी कीर्तन भक्तिके आचार्य हैं। श्रीप्रियादासजी महाराज उनके सम्बन्धमें निम्न कवित्तमें कहते हैं—

गर्भते निकसि चले बनहीं में कीयो बास व्याससे पिता को नहिं उत्तर हू दियो है।
दशम श्लोक सुनि गुनि मति हरि गई लई नई रीति पढ़ि भागवत लियो है॥
रूप गुन भरि सह्यो जात कैसे करि आए सभा नृप ढरि भीज्यौ प्रेमरस हियो है।
पूछे भक्त भूप ठौर ठौर परे भौंर जाय गाय उठे जबै मानो रंगझर कियो है॥ ९८॥

परमहंस श्रीशुकदेवजी माताके गर्भसे जन्म लेते ही वनको चल दिये और वहीं रहकर भजन करने लगे। वात्सल्यप्रेमवश पुत्र! पुत्र!! पुकारनेपर भी वेदव्यास-सरीखे पिताको जिन्होंने उत्तर भी नहीं दिया था, वे ही शुकदेव व्यासशिष्योंद्वारा श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके श्लोकोंको सुनकर मोहित हो गये। श्लोकोंके अर्थका मनन करके उनकी बुद्धि भगवान्‌के गुणानुवादोंमें रम गयी। विचित्र बात तो यह हुई कि पुकारनेपर उत्तर न देकर जिनकी उपेक्षा की थी, उन्हींके समीप आकर उनकी शिष्यता स्वीकार की और श्रीमद्भागवतको पढ़ा। श्रीकृष्णके अद्भुत रूप और गुणोंसे शुकदेवजीका हृदय भर गया। प्रतिक्षण बढ़नेवाले भावोंका भार कैसे सहा जाय। फिर आप गंगातटपर आत्मोद्धारके निमित्त राजा परीक्षित्‌द्वारा आयोजित ऋषियोंकी सभामें पधारे। कृपावश उनका हृदय राजाका उद्धार करनेके लिये पसीज गया। भक्तभूप राजा परीक्षित्‌ने सात दिनोंमें ही अपने उद्धारका उपाय पूछा। जिसे सुनकर ऋषिलोग जहाँ-तहाँ विचारने लगे, पर वे दुविधाके चक्करमें पड़ गये। कुछ भी निर्णय न कर सके। तब शुकदेवजी भावविभोर होकर भगवद्‌गुणानुवाद गा उठे, उस समय ऐसा लगा मानो वे भक्तिरसके आनन्दकी निरन्तर वर्षा कर रहे हैं॥ ९८॥

श्रीशुकदेवजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण छप्पय ७ पर भी आया है।

श्रीप्रह्लादजी

रामनाम जपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥*

जब भगवान् वाराहने पृथ्वीको रसातलसे लाते समय हिरण्याक्षको मार दिया, तब उसका बड़ा भाई दैत्यराज हिरण्यकशिपु बहुत ही क्रोधित हुआ। उसने निश्चय किया कि 'मैं अपने भाईका बदला लेकर रहूँगा।' अपनेको अजेय एवं अमर बनानेके लिये हिमालयपर जाकर वह तप करने लगा। उसने सहस्रों

* सभी प्रकारके तापोंका शमन करनेवाली एकमात्र औषधि रामनामका जप करनेवालेको भय कहाँ? हे तात! देखिये, अग्नि भी इस समय मेरे शरीरसे स्पर्शकर शीतल हो गयी है।

वर्षोंतक उग्र तप करके ब्रह्माजीको सन्तुष्ट किया। ब्रह्माजीने उसे वरदान दिया कि 'तुम किसी अस्त्र-शस्त्रसे, ब्रह्माजीद्वारा निर्मित किसी प्राणीसे, रातमें, दिनमें, जमीनपर, आकाशमें—कहीं मारे नहीं जाओगे।'

जब हिरण्यकशिपु तपस्या करने चला गया था, तभी देवताओंने दैत्योंकी राजधानीपर आक्रमण किया। कोई नायक न होनेसे दैत्य हारकर दिशाओंमें भाग गये। देवताओंने दैत्योंकी राजधानीको लूट लिया। देवराज इन्द्रने हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधूको बन्दी कर लिया और स्वर्गको ले चले। रास्तेमें देवर्षि नारद मिल गये। उन्होंने इन्द्रको रोका कि 'तुम दैत्यराजकी पतिव्रता पत्नीको मत ले जाओ।' इन्द्रने बताया कि 'कयाधू गर्भवती है। उसके जब संतान हो जायगी, तब उसके पुत्रका वध करके उसे छोड़ दिया जायगा।' देवर्षिने कहा—'इसके गर्भमें भगवान्‌का परम भक्त है। उससे देवताओंको भय नहीं है। उस भागवतको मारा नहीं जा सकता।' इन्द्रने देवर्षिकी बात मान ली। वे 'कयाधूके गर्भमें भगवान्‌का भक्त है' यह सुनकर उसकी परिक्रमा करके अपने लोकको चले गये।

जब कयाधू देवराजके बन्धनसे छोड़ दी गयी, तब वह देवर्षिके आश्रममें आकर रहने लगी। उसके पति जबतक तपस्यासे न लौटें, उसके लिये दूसरा निरापद आश्रय नहीं था। देवर्षि भी उसे पुत्रीकी भाँति मानते थे और बराबर गर्भस्थ बालकको लक्ष्य करके उसे भगवद्भक्तिका उपदेश किया करते थे। गर्भस्थ बालक प्रह्लादने उन उपदेशोंको ग्रहण कर लिया। भगवान्‌की कृपासे वह उपदेश उन्हें फिर भूला नहीं।

जब वरदान पाकर हिरण्यकशिपु लौटा, तब उसने सभी देवताओंको जीत लिया। सभी लोकपालोंको जीतकर वह उनके पदका स्वयं उपभोग करने लगा। उसे भगवान्‌से घोर शत्रुता थी, अतः ऋषियोंको वह कष्ट देने लगा। यज्ञ उसने बन्द करा दिये। धर्मका वह घोर विरोधी हो गया। उसके गुरु शुक्राचार्य उस समय तप करने चले गये थे। अपने पुत्र प्रह्लादको उसने अपने गुरुपुत्र षण्ड तथा अमर्कके पास शिक्षा पाने भेज दिया। प्रह्लाद उस समय पाँच ही वर्षके थे। एक बार प्रह्लाद घर आये। माताने उन्हें वस्त्राभरणोंसे सजाया। पिताके पास जाकर उन्होंने प्रणाम किया। हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको गोदमें बैठा लिया। स्नेहपूर्वक उनसे उसने पूछा—'बेटा! तुमने जो कुछ पढ़ा है, उसमेंसे कोई अच्छी बात मुझे भी सुनाओ तो।'

प्रह्लादजीने कहा—'पिताजी! संसारके सभी प्राणी असत् संसारमें आसक्त होकर सदा उद्विग्न रहते हैं। मैं तो सबके लिये यही अच्छा मानता हूँ कि अपना पतन करानेवाले जलहीन अन्धकूपके समान घरोंको छोड़कर मनुष्य वनमें जाकर श्रीहरिका आश्रय ले।'

हिरण्यकशिपु जोरसे हँस पड़ा। उसे लगा कि किसी शत्रुने मेरे बच्चेको बहका दिया है। उसने गुरुपुत्रोंको सावधान किया कि 'वे प्रह्लादको सुधारें। उसे दैत्यकुलके उपयुक्त अर्थ, धर्म, कामका उपदेश दें।' गुरुपुत्र प्रह्लादको अपने यहाँ ले आये। उन्होंने प्रह्लादसे पूछा कि 'तुमको यह उलटा ज्ञान किसने दिया है?' प्रह्लादने कहा—'गुरुदेव! यह मैं हूँ और यह दूसरा है, यह तो अज्ञान है। भगवान्‌की इस मायासे ही जीव मोहित हो रहे हैं। वे दयामय जिसपर दया करते हैं, उसीका चित्त उनमें लगता है। मेरा चित्त तो उनकी अनन्त कृपासे ही उन परम पुरुषकी ओर सहज खिंच गया है।'

गुरुपुत्रोंने बहुत डाँटा-धमकाया और वे प्रह्लादको अर्थशास्त्र, दण्डनीति, राजनीति आदिकी शिक्षा देने लगे। गुरुद्वारा पढ़ायी विद्याको प्रह्लाद ध्यानपूर्वक सीखते थे। वे गुरुका कभी अपमान नहीं करते थे और न उन्होंने विद्याका ही तिरस्कार किया; पर उस विद्याके प्रति उनके मनमें कभी आस्था नहीं हुई। गुरुपुत्रोंने जब उन्हें भलीभाँति सुशिक्षित समझ लिया, तब दैत्यराजके पास ले गये। हिरण्यकशिपुने अपने विनयी पुत्रको गोदमें बैठाकर पूछा—'बताओ, बेटा! तुम अपनी समझसे उत्तम ज्ञान क्या मानते हो?' प्रह्लादजीने कहा—

'भगवान्‌के गुण एवं चरित्रोंका श्रवण, उनकी लीलाओं तथा नामोंका कीर्तन, उन मंगलमयका स्मरण, उनके श्रीचरणोंकी सेवा, उन परम प्रभुकी पूजा, उनकी वन्दना, उनके प्रति दास्यभाव, उनसे सख्य, उन्हें आत्म-निवेदन—यह नवधा भक्ति है। इस नवधा भक्तिके आश्रयसे भगवान्‌में चित्त लगाना ही समस्त अध्ययनका सर्वोत्तम फल मैं मानता हूँ।'

हिरण्यकशिपु तो क्रोधसे लाल-पीला हो गया। उसने गोदसे प्रह्लादको धक्का देकर भूमिपर पटक दिया। गुरुपुत्रोंको उसने डाँटा कि 'तुमलोगोंने मेरे पुत्रको उलटी शिक्षा देकर शत्रुका व्यवहार किया है।' गुरुपुत्रोंने बताया कि 'इसमें हमारा कोई दोष नहीं है।' प्रह्लादजी पिताद्वारा तिरस्कृत होकर भी शान्त खड़े थे। उन्हें कोई क्षोभ नहीं था। उन्होंने कहा—'पिताजी! आप रुष्ट न हों। गुरुपुत्रोंका कोई दोष नहीं है। जो लोग विषयासक्त हैं—घरके, परिवारके मोहमें जिनकी बुद्धि बँधी है, वे तो उगले हुएको खानेके समान नरकमें ले जानेवाले विषयोंको, जो बार-बार भोगे गये हैं, सेवन करनेमें लगे हैं। उनकी बुद्धि अपने-आप या दूसरेकी प्रेरणासे भी भगवान्‌में नहीं लगती। जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धेको मार्ग नहीं बता सकता, वैसे ही जो सांसारिक सुखोंको ही परम पुरुषार्थ माने हुए हैं, वे भगवान्‌के स्वरूपको नहीं जानते। वे भला, किसीको क्या मार्ग दिखा सकते हैं। सम्पूर्ण क्लेशों, सभी अनर्थोंका नाश तो तभी होता है, जब बुद्धि भगवान्‌के श्रीचरणोंमें लगे। परंतु जबतक महापुरुषोंकी चरण-रज मस्तकपर धारण न की जाय, तबतक बुद्धि निर्मल होकर भगवान्‌में लगती नहीं।'

नन्हा-सा बालक त्रिभुवनविजयी दैत्यराजके सामने निर्भय होकर इस प्रकार उनके शत्रुका पक्ष ले, यह असह्य हो गया दैत्यराजको। चिल्लाकर हिरण्यकशिपुने अपने क्रूर सभासद् दैत्योंको आज्ञा दी—'जाओ, तुरंत इस दुष्टको मार डालो।' असुर भाले, त्रिशूल, तलवार आदि लेकर एक साथ 'मारो! काट डालो।' चिल्लाते हुए पाँच वर्षके बालकपर टूट पड़े। पर प्रह्लाद निर्भय खड़े रहे। उन्हें तो सर्वत्र अपने दयामय प्रभु ही दिखायी पड़ते थे। डरनेका कोई कारण नहीं जान पड़ा उन्हें। असुरोंने पूरे बलसे अपने अस्त्र-शस्त्र बार-बार चलाये; किंतु प्रह्लादको कोई क्लेश नहीं हुआ। उनको तनिक भी चोट नहीं लगी। उनके शरीरसे छूते ही वे हथियार टुकड़े-टुकड़े हो जाते थे।

अब हिरण्यकशिपुको आश्चर्य हुआ। उसने प्रह्लादको मारनेका निश्चय कर लिया। अनेक उपाय करने लगा वह। मतवाले हाथीके सामने हाथ-पैर बाँधकर प्रह्लाद डाल दिये गये, पर हाथीने उन्हें सूँड़से उठाकर मस्तकपर बैठा लिया। कोठरीमें उन्हें बन्द किया गया और वहाँ भयंकर सर्प छोड़े गये, पर वे सर्प प्रह्लादके पास पहुँचकर केंचुओंके समान सीधे हो गये। जंगली सिंह जब वहाँ छोड़ा गया, तब वह पालतू कुत्तेके समान पूँछ हिलाकर प्रह्लादके पास जा बैठा। प्रह्लादको भोजनमें उग्र विष दिया गया; किंतु उससे उनके ऊपर कोई प्रभाव न हुआ, विष जैसे उनके उदरमें जाकर अमृत हो गया हो। अनेक दिनोंतक भोजन तो क्या, जलकी एक बूँदतक प्रह्लादको नहीं दी गयी; पर वे शिथिल होनेके बदले ज्यों-के-त्यों बने रहे। उनका तेज बढ़ता ही जाता था। उन्हें ऊँचे पर्वतपरसे गिराया गया और पत्थर बाँधकर समुद्रमें फेंका गया। दोनों बार वे सकुशल भगवन्नामका कीर्तन करते नगरमें लौट आये। बड़ा भारी लकड़ियोंका पर्वत एकत्र किया गया। हिरण्यकशिपुकी बहन होलिकाने तप करके एक वस्त्र पाया था। वह वस्त्र अग्निमें जलता नहीं था। होलिका वह वस्त्र ओढ़कर प्रह्लादको गोदमें लेकर उस लकड़ियोंके ढेरपर बैठ गयी। उस ढेरमें अग्नि लगा दी गयी। होलिका तो भस्म हो गयी। पता नहीं, कैसे उसका वस्त्र उड़ गया उसकी देहसे; किंतु प्रह्लाद तो अग्निमें बैठे हुए पिताको समझा रहे थे—'पिताजी! आप भगवान्‌से द्वेष करना छोड़ दें। राम-नामका यह प्रभाव

तो देखें कि यह अग्नि मुझे अत्यन्त शीतल लग रही है। आप भी राम-नाम लें और संसारके समस्त तापोंसे इसी प्रकार निर्भय हो जायँ।'

दैत्यराज हिरण्यकशिपुके अनेक दैत्योंने मायाके प्रयोग किये; किंतु माया तो प्रह्लादके सम्मुख टिकती ही नहीं। उनके नेत्र उठाते ही मायाके दृश्य अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। गुरुपुत्र षण्ड तथा अमर्कने अभिचारके द्वारा प्रह्लादको मारनेके लिये कृत्या उत्पन्न की; परंतु उस कृत्याने गुरुपुत्रोंको ही उलटे मार दिया। प्रह्लादने भगवान्‌की प्रार्थना करके गुरुपुत्रोंको फिरसे जीवित किया। यों मारनेकी चेष्टा करनेवालोंको उनके मरनेपर जिला दिया। धन्य है!

इस प्रकार दैत्यराजने अनेकों उपाय कर लिये प्रह्लादको मारनेके, पर कोई सफल न हुआ। जिसका चित्त भगवान्‌में लगा है, जो सर्वत्र अपने दयामय प्रभुको प्रत्यक्ष देखता है, भला, उसकी तनिक-सी भी हानि वे सर्वसमर्थ प्रभु कैसे होने दे सकते हैं! अब दैत्यराजको भय लगा। वे सोचने लगे कि 'कहीं यह नन्हा-सा बालक मेरी मृत्युका कारण न हो जाय।' गुरुपुत्रोंके कहनेसे प्रह्लादको उन्होंने फिर गुरुगृह भेज दिया। शिक्षा तथा संगके प्रभावसे बालक सुधर जाय, यह उनकी इच्छा थी। गुरुगृहमें प्रह्लादजी अपने गुरुओंकी पढ़ायी विद्या पढ़ते तो थे, पर उनका चित्त उसमें लगता नहीं था। जब दोनों गुरु आश्रमके काममें लग जाते, तब प्रह्लाद अपने सहपाठी बालकोंको बुला लेते। एक तो ये राजकुमार थे, दूसरे अत्यन्त नम्र तथा सबसे स्नेह करनेवाले थे; अतएव सब बालक खेलना छोड़कर इनके बुलानेपर इनके समीप ही एकत्र हो जाते थे। प्रह्लादजी बड़े प्रेमसे उन बालकोंको समझाते थे—'भाइयो! यह जन्म व्यर्थ नष्ट करनेयोग्य नहीं है। यदि इस जीवनमें भगवान्‌को न पाया गया तो बहुत बड़ी हानि हुई। घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, राज्य-धन आदि तो दुःख ही देनेवाले हैं। इनमें मोह करके तो नरक जाना पड़ता है। मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटा लेनेमें ही सुख और शान्ति है। भगवान्‌को पानेका साधन सबसे अच्छे रूपमें इस कुमारावस्थामें ही हो सकता है। बड़े होनेपर तो स्त्री, पुत्र, धन आदिका मोह मनको बाँध लेता है और भला, वृद्धावस्थामें कोई कर ही क्या सकता है? भगवान्‌को पानेमें कोई बड़ा परिश्रम भी नहीं। वे तो हम सबके हृदयमें ही रहते हैं। सब प्राणियोंमें वे ही भगवान् हैं, अतः किसी प्राणीको कष्ट नहीं देना चाहिये। मनको सदा भगवान्‌में ही लगाये रहना चाहिये।'

सीधे-सादे सरल-चित्त दैत्यबालकोंपर प्रह्लादजीके उपदेशका प्रभाव पड़ता था। बार-बार सुनते-सुनते वे उस उपदेशपर चलनेका प्रयत्न करने लगे। शुक्राचार्यके पुत्रोंने यह सब देखा तो उन्हें बहुत भय हुआ। उन्होंने प्रह्लादको दैत्यराजके पास ले जाकर सब बातें बतायीं। अब हिरण्यकशिपुने अपने हाथसे प्रह्लादको मारनेका निश्चय किया। उसने गरजकर पूछा—'अरे मूर्ख! तू किसके बलपर मेरा बराबर तिरस्कार करता है? मैं तेरा वध करूँगा। कहाँ है तेरा वह सहायक? वह अब तुझे आकर बचाये तो देखूँ!'

प्रह्लादजीने नम्रतासे उत्तर दिया—'पिताजी! आप क्रोध न करें। सबका बल उस एक निखिल शक्तिसिन्धुके सहारे ही है! मैं आपका तिरस्कार नहीं करता। संसारमें जीवका कोई शत्रु है तो उसका अनियन्त्रित मन ही है। उत्पथगामी मनको छोड़कर दूसरा कोई किसीका शत्रु नहीं। भगवान् तो सब कहीं हैं। वे मुझमें हैं, आपमें हैं, आपके हाथके इस खड्गमें हैं, इस खम्भेमें हैं, सर्वत्र हैं।

'वे इस खम्भेमें भी हैं?' हिरण्यकशिपुने प्रह्लादकी बात पूरी होने नहीं दी। उसने सिंहासनसे उठकर पूरे जोरसे एक घूँसा खम्भेपर मारा। घूँसेके शब्दके साथ ही एक महाभयंकर दूसरा शब्द हुआ, जैसे सारा ब्रह्माण्ड फट गया हो। सब लोग भयभीत हो गये। हिरण्यकशिपु भी इधर-उधर देखने लगा। उसने देखा

कि वह खम्भा बीचसे फट गया है और उससे मनुष्यके शरीर एवं सिंहके मुखकी एक अद्भुत भयंकर आकृति प्रकट हो रही है। भगवान् नृसिंहके प्रचण्ड तेजसे दिशाएँ जल-सी रही थीं। वे बार-बार गर्जन कर रहे थे। दैत्यने ढाल-तलवार लेकर बहुत उछल-कूद की, बहुत पैंतरे बदले उसने; किंतु अन्तमें नृसिंहभगवान्ने उसे पकड़ लिया और राजसभाके द्वारपर ले जाकर अपने जानुपर रखकर नखोंसे उसका उदर फाड़ डाला।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु मारा गया, किंतु भगवान् नृसिंहका क्रोध शान्त नहीं हुआ। वे बार-बार गर्जना कर रहे थे। ब्रह्माजी, शंकरजी तथा दूसरे सभी देवताओंने दूरसे ही उनकी स्तुति की। पास आनेका साहस तो भगवती लक्ष्मीजी भी न कर सकीं। वे भी भगवान्का वह विकराल क्रुद्ध रूप देखकर डर गयीं। अन्तमें ब्रह्माजीने प्रह्लादको नृसिंहभगवान्को शान्त करनेके लिये उनके पास भेजा। प्रह्लाद निर्भय होकर भगवान्के पास जाकर उनके चरणोंपर गिर गये। भगवान्ने स्नेहसे उन्हें उठाकर अपनी गोदमें बैठा लिया। वे बार-बार अपनी जीभसे प्रह्लादको चाटते हुए कहने लगे—'बेटा प्रह्लाद! मुझे आनेमें बहुत देर हो गयी। तुझे बहुत कष्ट सहने पड़े। तू मुझे क्षमा कर दे।'

प्रह्लादजीका कण्ठ भर आया। आज त्रिभुवनके स्वामी उनके मस्तकपर अपना अभय कर रखकर उन्हें स्नेहसे चाट रहे थे। प्रह्लादजी धीरेसे उठे। उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर भगवान्की स्तुति की। बड़े ही भक्तिभावसे उन्होंने भगवान्का गुणगान किया। अन्तमें भगवान्ने उनसे वरदान माँगनेको कहा। प्रह्लादजीने कहा—'प्रभो! आप वरदान देनेकी बात करके मेरी परीक्षा क्यों लेते हैं? जो सेवक स्वामीसे अपनी सेवाका पुरस्कार चाहता है, वह तो सेवक नहीं, व्यापारी है। आप तो मेरे उदार स्वामी हैं। आपको सेवाकी अपेक्षा नहीं है और मुझे भी सेवाका कोई पुरस्कार नहीं चाहिये। मेरे नाथ! यदि आप मुझे शुद्ध वरदान ही देना चाहते हैं तो मैं आपसे यही माँगता हूँ कि मेरे हृदयमें कभी कोई कामना ही न उठे।'

फिर प्रह्लादजीने भगवान्से प्रार्थना की—'मेरे पिता आपकी और आपके भक्तकी (मेरी) निन्दा करते थे, वे पापसे छूट जायँ।'

भगवान्ने कहा—'प्रह्लाद! जिस कुलमें मेरा भक्त होता है, वह पूरा कुल पवित्र हो जाता है। तुम जिसके पुत्र हो, वह तो परम पवित्र हो चुका। तुम्हारे पिता तो इक्कीस पीढ़ियोंके साथ पवित्र हो चुके। मेरा भक्त जिस स्थानपर उत्पन्न होता है, वह स्थान धन्य है। वह पृथ्वी तीर्थ हो जाती है, जहाँ मेरा भक्त अपने चरण रखता है।' भगवान्ने वचन दिया कि 'अब मैं प्रह्लादकी संतानोंका वध नहीं करूँगा।' कल्पपर्यन्तके लिये प्रह्लादजी अमर हुए। वे भक्तराज अपने महाभागवत पौत्र बलिके साथ अब भी सुतलमें भगवान्की आराधनामें नित्य तन्मय रहते हैं!

श्रीप्रह्लादजी भगवान्के स्वरूप-स्मरणरूपी भक्तिके आचार्य हैं। श्रीप्रियादासजी महाराज उनकी भक्तिपर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

सुमिरन साँचो कियो लियो देखि सबहीं में एक भगवान् कैसे काटै तरवार है।
काटिबो खडग जल बोरिबो सकति जाकी ताहिको निहारै चहूँ ओर सो अपार है॥
पूछे ते बतायो खम्भ तहाँ ही दिखायो रूप प्रगट अनूप भक्तवाणी ही सों प्यार है।
दुष्ट डार्‍यौ मारि गरे आंतैं लई डारि तऊ क्रोधको न पार कहा कियो यों बिचार है॥ ९९॥

भक्तवर प्रह्लादजीने सच्चे हृदयसे भगवान्का सच्चा स्मरण किया। उन्होंने देख लिया कि एक ही भगवान् चराचरमें सर्वत्र विराजमान हैं, अब भला उन्हें तलवार कैसे काट सकती थी! जिसकी शक्तिसे तलवारमें काटनेकी और जलमें डुबानेकी शक्ति है, उसी भगवान्को वे तलवार तथा जलमें देखते थे। इसलिये उन्हें तलवार कैसे काटे

और जल कैसे डुबाये, वे अपने तथा संसारमें चारों ओर अपार-अनन्त भगवन्तको ही देखते थे। जब हिरण्यकशिपुने पूछा—तेरा रक्षक भगवान् कहाँ है ? प्रह्लादजीने कहा—वह सर्वत्र है। हिरण्यकशिपुने कहा—तो इस खम्भेमें क्यों नहीं दीखता है ? प्रह्लादजीने कहा—मुझे तो इस खम्भेमें भी दिखायी पड़ता है। यह सुनकर उसने क्रोधवश खम्भेमें बड़े जोरसे घूँसा मारा। तब खम्भेसे प्रकट होकर भगवान्ने अपना अनुपम रूप दिखाया; क्योंकि भगवान्को तो भक्तवाणीसे ही प्यार है। फिर भगवान्ने हिरण्यकशिपुको मार डाला। उसके पेटको फाड़कर उसकी आँतें अपने गलेमें डाल लीं। फिर भी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। पता नहीं, अब और कौन-सा कार्य करनेका विचार है॥ ९९॥

डरे शिव अज आदि देख्यो नहीं क्रोध ऐसो आवत न ढिंग कोऊ लछिमी हूँ त्रास है।
तब तो पठायो प्रह्लाद अहलाद महा अहो भक्ति भाव पग्यो आयो प्रभु पास है॥
गोद में उठाइ लियो शीस पर हाथ दियो हियो हुलसायो कही वाणी विनयरास है।
आई जग दया लगि पर्‌यो श्रीनृसिंहजू को अर्‌यो यों छुटावो कर्‌यो माया ज्ञान नास है॥ १००॥

नृसिंहभगवान्के अति भयंकर रूपको देखकर ब्रह्माजी आदि सभी देवगण भयभीत हो गये। उन्होंने आजतक ऐसा क्रोध नहीं देखा था। डरके मारे कोई भी समीप नहीं आता था। यहाँतक कि लक्ष्मीजीको भी उनके पास आनेमें भय लगता था। तब ब्रह्माजीने उनका क्रोध शान्त करनेके लिये प्रह्लादजीको उनके समीप भेजा। नृसिंहजीके दर्शनोंसे प्रह्लादजीको अति प्रसन्नता हुई, वे भक्तिभावमें निमग्न नृसिंहजीके पास पहुँचे। भगवान्ने प्रह्लादको गोदमें उठा लिया और उनके सिरपर हाथ फेरा। प्रभुके करकमलका कोमल स्पर्श पाकर उनका हृदय आनन्दित हो गया। वे विनम्रतापूर्वक प्रभुकी स्तुति करने लगे। फिर 'वर माँगो' ऐसा नृसिंहभगवान्के कहनेपर प्रह्लादजीको संसारी जीवोंपर दया आ गयी। उन्होंने भगवान्के श्रीचरणोंमें लगकर यह वर माँगा कि आप मायासे बँधे जीवोंको छुड़ाइये। मायाने ही लोगोंके ज्ञानका नाश कर दिया है। इस वरको पानेके लिये प्रह्लादजीने मचलकर हठ किया॥ १००॥

भक्त प्रह्लादजीके विषयमें विवरण छप्पय ५ में नृसिंहावतारके प्रकरणमें भी आया है।

भगवती श्रीलक्ष्मीजी

भगवती लक्ष्मीजी भगवान् विष्णुकी नित्य शक्ति हैं। वे आठों याम भगवान्के श्रीचरणोंकी सेवामें लीन रहती हैं। भगवान् जब-जब अवतार लेते हैं, तब-तब भगवती महालक्ष्मी भी अवतीर्ण होकर उनकी प्रत्येक लीलामें सहयोग देती हैं। इनके आविर्भावके अनेक आख्यान पुराणोंमें आते हैं। एक आख्यानके अनुसार महर्षि भृगुकी पत्नी ख्यातिके गर्भसे एक त्रिलोकसुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई। वह समस्त शुभ लक्षणोंसे सुशोभित थी। इसलिये उसका नाम लक्ष्मी रखा गया। धीरे-धीरे बड़ी होनेपर लक्ष्मीने भगवान् नारायणके गुण-प्रभावका वर्णन सुना। इससे उनका हृदय भगवान्में अनुरक्त हो गया। वे भगवान् नारायणको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये समुद्रतटपर घोर तपस्या करने लगीं। उन्हें तपस्या करते-करते एक हजार वर्ष बीत गये। उनकी परीक्षा लेनेके लिये देवराज इन्द्र भगवान् विष्णुका रूप धारण करके लक्ष्मीदेवीके पास आये और उनसे वर माँगनेके लिये कहा—लक्ष्मीजीने उनसे विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये कहा। इन्द्र वहाँसे लज्जित होकर लौट गये। अन्तमें भगवती लक्ष्मीको कृतार्थ करनेके लिये स्वयं भगवान् विष्णु पधारे। भगवान्ने देवीसे वर माँगनेके लिये कहा। उनकी प्रार्थनापर भगवान्ने उन्हें विश्वरूपका दर्शन कराया। तदनन्तर लक्ष्मीजीके इच्छानुसार भगवान् विष्णुने उन्हें पत्नीरूपमें स्वीकार किया।

लक्ष्मीजीके प्रकट होनेका दूसरा इतिहास इस प्रकार है—देवगणोंने दैत्योंसे सन्धि करके अमृत-प्राप्तिके

लिये समुद्र-मन्थनका कार्य आरम्भ किया। मन्दराचलकी मथानी और वासुकि नागकी रस्सी बनी। भगवान् विष्णु स्वयं कच्छपरूप धारण करके मन्दराचलके आधार बने। इस प्रकार मन्थन करनेपर क्षीरसागरसे क्रमशः कालकूट विष, कामधेनु, उच्चैःश्रवा नामक अश्व, ऐरावत हाथी, कौस्तुभमणि, कल्पवृक्ष, अप्सराएँ, लक्ष्मी, वारुणी, चन्द्रमा, शंख, शार्ङ्ग धनुष, धन्वन्तरि और अमृत प्रकट हुए। क्षीरसमुद्रसे जब भगवती लक्ष्मी देवी प्रकट हुईं, तब वे खिले हुए श्वेत कमलके आसनपर विराजमान थीं। उनके श्रीअंगोंसे दिव्य कान्ति निकल रही थी। उनके हाथमें कमल था। लक्ष्मीजीका दर्शन करके देवता और महर्षिगण प्रसन्न हो गये। उन्होंने वैदिक श्रीसूक्तका पाठ करके लक्ष्मीदेवीका स्तवन किया। सबके देखते-देखते वे भगवान् विष्णुके पास चली गयीं।

श्रीलक्ष्मीजीका विवरण छप्पय ९ में भी आया है।

श्रीपृथुजी

श्रीपृथुजी पूजन-भक्तिके आचार्य हैं। आप भगवान् श्रीहरिके अंशावतार और आदि राजा हैं। आपने धरतीको अपनी पुत्रीके रूपमें स्वीकार किया था, इसीलिये धरतीका एक नाम पृथ्वी भी हो गया।

महाराज पृथुने निन्यानबे अश्वमेध यज्ञोंद्वारा भगवान् श्रीहरिका भलीभाँति पूजन किया था। इससे यज्ञभोक्ता यज्ञेश्वरभगवान् अत्यन्त सन्तुष्ट हुए थे। राजा पृथु जब सौवाँ अश्वमेधयज्ञ कर रहे थे तो ईर्ष्यावश इन्द्रने अश्वका हरण कर लिया था। इन्द्रकी इस कुचेष्टासे महाराज पृथु बहुत क्रोधित हुए और इन्द्रका वध करनेको उद्यत हो गये। यह देखकर स्वयं भगवान् विष्णु इन्द्रको लेकर उनकी यज्ञशालामें प्रकट हुए और इन्द्रको क्षमा कर देनेको कहा। महाराज पृथु तो भगवान्का दर्शनकर ही कृतकृत्य हो गये थे, उन्होंने इन्द्रको गले लगा लिया।

तदनन्तर भगवान् श्रीहरिने महाराज पृथुसे वरदान माँगनेको कहा। इसपर पृथुने कहा—हे प्रभो! मुझे मोक्ष आदि तुच्छ विषयोंकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं है, मुझे तो आप दस हजार कान दे दीजिये, जिनसे मैं आपके गुणानुवादको सुनता रहूँ।* ऐसी उत्कट भक्ति थी महाराज पृथुकी भगवान् श्रीहरिके पादारविन्दोंमें!

महाराज पृथुके विषयमें विवरण छप्पय ५ में भी आया है।

श्रीअक्रूरजी

श्रीअक्रूरजी भगवान्की पद-वन्दन भक्तिके आचार्य हैं। भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी उनकी भक्तिका वर्णन करते हुए कहते हैं—

चले अकरूर मधुपुरी ते विसूर नैन चली जलधारा कब देखौं छबिपूर को।
सगुन मनावैं एक देखिबोई भावैं देह सुधि बिसरावैं लोटैं लखि पगधूर को॥
वन्दन प्रवीन चाह निपट नवीन भई दई शुकदेव कहि जीवन की मूर को।
मिले रामकृष्ण झिले पाइ के मनोरथको खिले दृगरूप कियो हियो चूर-चूर को॥ १०१॥

भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको लिवा लानेके लिये जब कंसने अक्रूरको मथुरासे भेजा, तब ये प्रेमातुर होकर नन्दगोकुलको चले। प्रेमचिन्तित अक्रूरजीके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। मार्गमें जाते हुए सोच रहे थे कि कब मैं शीघ्र जाकर शोभाधाम श्यामसुन्दरको देखूँगा। वे मन-ही-मन यही मना रहे थे कि मुझे जो यह शुभ शकुन हो रहे हैं, इनका फल प्रभुदर्शन ही हो। उन्हें दर्शनोंके अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। उन्हें अपने शरीरकी सुध-बुध नहीं थी। गोकुलमें प्रविष्ट होते ही उन्हें धूलिमें वज्र-ध्वज-अंकुश-कमलयुक्त श्रीकृष्णके चरणचिह्न दिखायी पड़े, तब वे सहसा कूद पड़े

* न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः। महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥
(श्रीमद्भा० ४।२०।२४)

और वहीं व्रजरजमें लोटने लगे। वन्दनभक्तिमें परमप्रवीण श्रीअक्रूरजीके हृदयमें बिलकुल नयी प्रेममयी एक अभिलाषा प्रकट हुई। श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्भागवतमें उस उत्कण्ठाका वर्णन किया है, जो भक्तोंके जीवनमें भक्तिरूपी प्राणोंके लिये संजीवनी बूटी है। बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भाई बड़े प्रेमसे अक्रूरजीसे छाती लगाकर मिले। अक्रूरजीने मार्गमें जितने मनोरथ किये थे, वे सभी पूर्ण हो गये। प्रभुकी रूपमाधुरीसे उनके नेत्र आनन्दसे खिल उठे। अक्रूरजीने अपने हृदयको प्रेमार्द्र करके प्रभुमें लीन कर दिया॥ १०१॥

श्रीअक्रूरजीसे सम्बन्धित विवरण छप्पय ९ में भी आया है।

श्रीहनुमान्‌जी

श्रीहनुमान्‌जी भगवान्‌की दास्यभक्तिके आचार्य हैं। वे स्वयं कहते हैं—'**दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य**' अर्थात् मैं कोसलेन्द्र श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ।

श्रीहनुमान्‌जीके जन्मके सम्बन्धमें यह कथा प्रसिद्ध है कि अपने इष्टदेव प्रभु श्रीरामजीकी सेवा करनेके लिये स्वयं भगवान् शंकर ही रुद्ररूप छोड़कर वानररूपमें अवतरित हुए थे। गोस्वामीजी इस तथ्यको दोहावली (१४२-१४३)-में इस प्रकार निरूपित करते हैं—

जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान। रुद्र देह तजि नेहबस बानर भे हनुमान॥
जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान। पुरुखा ते सेवक भए हर ते भे हनुमान॥

अर्थात् सज्जन उसी शरीरका आदर करते हैं, जिससे श्रीरामसे प्रेम हो। इसी स्नेहवश रुद्रदेह त्यागकर हनुमान्‌जीने वानरका शरीर धारण किया। इसी प्रकार श्रीरामजीकी सेवाका आनन्द अपने मनमें जानकर ही ब्रह्माजी जामवन्त और शंकरजी हनुमान्‌जीके रूपमें अवतरित हुए।

श्रीअर्जुनजी

एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्॥*

(महाभारत, उद्योगपर्व ४९। २०)

साक्षात् श्रीहरि ही भक्तोंपर कृपा करनेके लिये, जगत्‌के कल्याण के लिये और संसारमें धर्मकी स्थापनाके लिये नाना अवतार धारण करते हैं। लोकमंगलके लिये नर-नारायण—इन दो रूपोंमें बदरिकाश्रममें तप करते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुनके रूपमें वे ही द्वापरके अन्तमें पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए। अर्जुन पाण्डवोंमें मझले भाई थे अर्थात् युधिष्ठिर तथा भीमसेनसे अर्जुन छोटे थे और नकुल तथा सहदेवसे बड़े। श्रीकृष्णचन्द्रके समान ही उनका वर्ण नवजलधर-श्याम था। वे कमलनेत्र एवं आजानुबाहु थे।

भगवान् व्यासने तथा भीष्मपितामहने अनेक बार महाभारतमें कहा है कि वीरता, स्फूर्ति, ओज, तेज, शस्त्र-संचालनकी कुशलता और अस्त्रज्ञानमें अर्जुनके समान दूसरा कोई नहीं है। सभी पाण्डव धर्मात्मा, उदार, विनयी, ब्राह्मणोंके भक्त तथा भगवान्‌को परम प्रिय थे; किंतु अर्जुन तो श्रीकृष्णचन्द्रसे अभिन्न, उन श्यामसुन्दरके समवयस्क सखा और उनके प्राण ही थे। दृढ़ प्रतिज्ञाके लिये अर्जुनकी बड़ी ख्याति है। पूर्वजन्मके कई शाप-वरदानोंके कारण पांचालराजकुमारी द्रौपदीका विवाह पाँचों पाण्डवोंसे हुआ। संसारमें कलहकी मूल तीन ही वस्तुएँ हैं—स्त्री, धन और पृथ्वी। इन तीनोंमें भी स्त्रीके लिये जितना रक्तपात हुआ है, उतना और किसीके लिये नहीं हुआ। एक स्त्रीके कारण भाइयोंमें परस्पर वैमनस्य न हो, इसलिये देवर्षि नारदजीकी आज्ञासे पाण्डवोंने नियम बनाया कि 'प्रत्येक भाई दो महीने बारह दिनके क्रमसे द्रौपदीके पास

* [ब्रह्माजी बृहस्पतिसे कहते हैं—] ये श्रीकृष्ण नारायण हैं और अर्जुन नर माने गये हैं। नारायण और नर दोनों एक ही सत्ता हैं, परंतु लोकहितके लिये दो शरीर धारण करके प्रकट हुए हैं।

रहे। यदि एक भाई एकान्तमें द्रौपदीके पास हो और दूसरा वहाँ उसे देख ले तो वह बारह वर्षका निर्वासन स्वीकार करे।' एक बार रात्रिके समय चोरोंने एक ब्राह्मणकी गायें चुरा लीं। वह पुकारता हुआ राजमहलके पास आया। वह कह रहा था—'जो राजा प्रजासे उसकी आयका छठा भाग लेकर भी रक्षा नहीं करता, वह पापी है।' अर्जुन ब्राह्मणको आश्वासन देकर शस्त्र लेने भीतर गये। जहाँ उनके धनुष आदि थे, वहाँ युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ एकान्तमें स्थित थे। एक ओर ब्राह्मणके गोधनकी रक्षाका प्रश्न था और दूसरी ओर निर्वासनका भय। अर्जुनने निश्चय किया—'चाहे कुछ हो, मैं शरणागतकी रक्षासे पीछे नहीं हटूँगा।' भीतर जाकर शस्त्र ले आये वे और लुटेरोंका पीछा करके उन्हें दण्ड दिया। गौएँ छुड़ाकर ब्राह्मणको दे दीं। अब वे धनंजय निर्वासन स्वीकार करनेके लिये उद्यत हुए। युधिष्ठिरजीने बहुत समझाया—'बड़े भाईके पास एकान्तमें छोटे भाईका पहुँच जाना कोई बड़ा दोष नहीं। द्रौपदीके साथ साधारण बातचीत ही तो हो रही थी। ब्राह्मणकी गायें बचाना राजधर्म था, अत: वह तो राजाका ही कार्य हुआ।' परंतु अर्जुन इन सब प्रयत्नोंसे विचलित नहीं हुए। उन्होंने कहा—'महाराज! मैंने आपसे ही सुना है कि धर्मपालनमें बहानेबाजी नहीं करनी चाहिये। मैं सत्यको नहीं छोड़ूँगा। नियम बनाकर उसका पालन न करना तो असत्य है।' इस प्रकार बड़े भाईके वचनोंका लाभ लेकर अर्जुन विचलित नहीं हुए। उन्होंने स्वेच्छासे निर्वासन स्वीकार किया।

× × × ×

व्यासजीकी आज्ञासे अर्जुन तपस्या करके शस्त्र प्राप्त करने गये। अपने तप तथा पराक्रमसे उन्होंने भगवान् शंकरको प्रसन्न करके पाशुपतास्त्र प्राप्त किया। दूसरे लोकपालोंने भी प्रसन्न होकर अपने-अपने दिव्यास्त्र उन्हें दिये। इसी समय देवराज इन्द्रका सारथि मातलि रथ लेकर उन्हें बुलाने आया। उसपर बैठकर वे स्वर्ग गये और वहाँ देवताओंके द्रोही असुरोंको उन्होंने पराजित किया। वहीं चित्रसेन गन्धर्वसे उन्होंने नृत्य-गान-वाद्यकी कला सीखी।

एक दिन अर्जुन इन्द्रके साथ उनके सिंहासनपर बैठे थे। देवराजने देखा कि पार्थकी दृष्टि देवसभामें नाचती हुई उर्वशी अप्सरापर लगी है। इन्द्रने समझा कि अर्जुन उस अप्सरापर आसक्त हैं। पराक्रमी धनंजयको प्रसन्न करनेके लिये उन्होंने एकान्तमें चित्रसेन गन्धर्वके द्वारा उर्वशीको रात्रिमें अर्जुनके पास जानेका सन्देश दिया। उर्वशी अर्जुनके भव्य रूप एवं महान् पराक्रमपर पहलेसे ही मोहित थी। इन्द्रका सन्देश पाकर वह बहुत प्रसन्न हुई। उसी दिन चाँदनी रातमें वस्त्राभरणसे अपनेको भलीभाँति सजाकर वह अर्जुनके पास पहुँची। अर्जुनने उसका आदरसे स्वागत किया। जो उर्वशी बड़े-बड़े तपस्वी-ऋषियोंको खूब सरलतासे विचलित करनेमें समर्थ हुई थी, भगवान् नारायणकी दी हुई जो स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी, एकान्तमें वह रात्रिके समय अर्जुनके पास गयी थी। उसने इन्द्रका सन्देश कहकर अपनी वासना प्रकट की। अर्जुनके मनमें इससे तनिक भी विकार नहीं आया। उन्होंने कहा—'माता! आप हमारे पूरुवंशके पूर्वज महाराज पुरूरवाकी पत्नी रही हैं। आपसे ही हमारा वंश चला है। भरतकुलकी जननी समझकर ही देवसभामें मैं आपको देख रहा था और मैंने मन-ही-मन आपको प्रणाम किया था। देवराजको समझनेमें भूल हुई। मैं तो आपके पुत्रके समान हूँ। मुझे क्षमा करें।'

उर्वशी काममोहिता थी। उसने बहुत समझाया कि स्वर्गकी अप्सराएँ किसीकी पत्नी नहीं होतीं। उनका उपभोग करनेका सभी स्वर्ग आये लोगोंको अधिकार है। परंतु अर्जुनका मन अविचल था। उन्होंने कहा—'देवि! मैं जो कहता हूँ, उसे आप, सब दिशाएँ और सब देवता सुन लें! जैसे मेरे लिये माता कुन्ती और माद्री पूज्य हैं, जैसे शची मेरी माता हैं, वैसे ही मेरे वंशकी जननी आप भी मेरी माता हैं। मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ।'

रुष्ट होकर उर्वशीने एक वर्षतक नपुंसक रहनेका शाप दे दिया। अर्जुनके इस त्यागका कुछ ठिकाना है! सभाओंमें दूसरोंके सामने बड़ी ऊँची बातें करना तो सभी जानते हैं; किंतु एकान्तमें युवती स्त्री प्रार्थना करे और उसे 'माता' कहकर वहाँसे अछूता निकल जाय, ऐसे तो विरले ही होते हैं। अर्जुनका यह इन्द्रियसंयम तो इससे भी महान् है। उन्होंने उस उर्वशीको एकान्तमें रोती, गिड़गिड़ाती लौटा दिया, जिसके कटाक्षमात्रसे बड़े-बड़े तपस्वी क्षणभरमें विचलित हो जाते थे!

× × × ×

श्रीकृष्णचन्द्र क्यों अर्जुनको इतना चाहते थे, क्यों उनके प्राण धनंजयमें ही बसते थे—यह बात जो समझ जाय, उसे श्रीकृष्णका प्रेम प्राप्त करना सरल हो जाता है। प्रेमस्वरूप भक्तवत्सल श्यामसुन्दरको जो जैसा, जितना चाहता है, उसे वे भी उसी प्रकार चाहते हैं। उन पूर्णकामको बल, ऐश्वर्य, धन या बुद्धिकी चतुरतासे कोई नहीं रिझा सकता। अर्जुनमें लोकोत्तर शूरता थी, वे आडम्बरहीन इन्द्रियविजयी थे और सबसे अधिक यह कि सब होते हुए भी अत्यन्त विनयी थे। उनके प्राण श्रीकृष्णमें ही बसते थे। युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञका पूरा भार श्रीकृष्णचन्द्रपर ही था। श्यामसुन्दरने ही अपने परम भक्त धर्मराजके लिये समस्त राजाओंको जीतनेके लिये पाण्डवोंको भेजा। उन मधुसूदनकी कृपासे ही भीमसेन जरासन्धको मार सके। इतनेपर भी अपने मित्र अर्जुनको प्रसन्न करनेके लिये युधिष्ठिरको चौदह सहस्र हाथी भगवान्ने भेंटस्वरूप दिये।

जिस समय महाभारतके युद्धमें अपनी ओर सम्मिलित होनेका निमन्त्रण देने दुर्योधन श्रीद्वारकेशके भवनमें गये, उस समय श्रीकृष्णचन्द्र सो रहे थे। दुर्योधन उनके सिरहाने एक आसनपर बैठ गये। अर्जुन भी कुछ पीछे पहुँचे और हाथ जोड़कर श्यामसुन्दरके श्रीचरणोंके पास नम्रतापूर्वक बैठ गये। भगवान्ने उठकर दोनोंका स्वागत-सत्कार किया। दुर्योधनने कहा—'मैं पहले आया हूँ, अतः आपको मेरी ओर आना चाहिये।' श्रीकृष्णचन्द्रने बताया कि 'मैंने पहले अर्जुनको देखा है।' लीलामयने तनिक हँसकर कहा—'एक ओर तो मेरी 'नारायणी सेना' के वीर सशस्त्र सहायता करेंगे और दूसरी ओर मैं अकेला रहूँगा; परंतु मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा। आपमेंसे जिन्हें जो रुचे, ले लें; किंतु मैंने अर्जुनको पहले देखा है, अतः पहले माँग लेनेका अधिकार अर्जुनका है।'

एक ओर भगवान्का बल, उनकी सेना और दूसरी ओर शस्त्रहीन भगवान्! एक ओर भोग और दूसरी ओर श्यामसुन्दर। परंतु अर्जुन-जैसे भक्तको कुछ सोचना नहीं पड़ा। उन्होंने कहा—'मुझे तो आपकी आवश्यकता है। मैं आपको ही चाहता हूँ।' दुर्योधन बड़े प्रसन्न हुए। उसे अकेले शस्त्रहीन श्रीकृष्णकी आवश्यकता नहीं जान पड़ी। भोगकी इच्छा करनेवाले विषयी लोग इसी प्रकार विषय ही चाहते हैं। विषयभोगका त्यागकर श्रीकृष्णको पानेकी इच्छा उनके मनमें नहीं जगती। श्रीकृष्णचन्द्रने दुर्योधनके जानेपर अर्जुनसे कहा—'भला, तुमने शस्त्रहीन अकेले मुझे क्यों लिया? तुम चाहो तो तुम्हें दुर्योधनसे भी बड़ी सेना दे दूँ।' अर्जुनने कहा—'प्रभो! आप मुझे मोहमें क्यों डालते हैं? आपको छोड़कर मुझे तीनों लोकोंका राज्य भी नहीं चाहिये। आप शस्त्र लें या न लें, पाण्डवोंके तो एकमात्र आश्रय आप ही हैं।'

अर्जुनकी यही भक्ति, यही निर्भरता थी, जिसके कारण श्रीकृष्णचन्द्र उनके सारथि बने। अनेक तत्त्ववेत्ता ऋषि-मुनियोंको छोड़कर जनार्दनने युद्धके आरम्भमें उन्हें ही अपने श्रीमुखसे गीताके दुर्लभ और महान् ज्ञानका उपदेश किया। युद्धमें इस प्रकार उनकी रक्षामें वे दयामय लगे रहे, जैसे माता अबोध पुत्रको सारे संकटोंसे बचानेके लिये सदा सावधान रहती है।

× × ×

युद्धमें जब द्रोणाचार्यके चक्रव्यूहमें फँसकर कुमार अभिमन्युने वीरगति प्राप्त कर ली, तब अर्जुनने अभिमन्युकी मृत्युका मुख्य कारण जयद्रथको जानकर प्रतिज्ञा की—'यदि जयद्रथ मेरी, धर्मराज युधिष्ठिरकी या श्रीकृष्णचन्द्रकी शरण न आ गया तो कल सूर्यास्तसे पूर्व उसे मार डालूँगा। यदि ऐसा न करूँ तो मुझे वीर तथा पुण्यात्माओंको प्राप्त होनेवाले लोक न मिलें। पिता-माताका वध करनेवाले, गुरु-स्त्रीगामी, चुगलखोर, साधु-निन्दा और परनिन्दा करनेवाले, धरोहर हड़प जानेवाले, विश्वासघाती, भुक्तपूर्वा स्त्रीको स्वीकार करनेवाले, ब्रह्महत्यारे, गोघाती आदिकी जो गति होती है, वह मुझे मिले, यदि मैं कल जयद्रथको न मार दूँ। वेदाध्ययन करनेवाले तथा पवित्र पुरुषोंका अपमान करनेवाले, वृद्ध-साधु एवं गुरुका तिरस्कार करनेवाले, ब्राह्मण-गौ तथा अग्निको पैरसे छूनेवाले, जलमें थूकने तथा मल-मूत्र त्यागनेवाले, नंगे नहानेवाले, अतिथिको निराश लौटानेवाले, घूसखोर, झूठ बोलनेवाले, ठग, दम्भी, दूसरोंको मिथ्या दोष देनेवाले, स्त्री-पुत्र एवं आश्रितको न देकर अकेले ही मिठाई खानेवाले, अपने हितकारी और आश्रित तथा साधुका पालन न करनेवाले, उपकारीकी निन्दा करनेवाले, निर्दयी, शराबी, मर्यादा तोड़नेवाले कृतघ्न, अपने भरण-पोषणकर्ताके निन्दक, गोदमें भोजन रखकर बायें हाथसे खानेवाले, धर्मत्यागी, उषाकालमें सोनेवाले, जाड़ेके भयसे स्नान न करनेवाले, युद्ध छोड़कर भागनेवाले क्षत्रिय, वेदपाठरहित तथा एक कुएँवाले ग्राममें छः माससे अधिक रहनेवाले, शास्त्रनिन्दक, दिनमें स्त्रीसंग करनेवाले, दिनमें सोनेवाले, घरमें आग लगानेवाले, विष देनेवाले, अग्नि तथा अतिथिकी सेवासे विमुख, गौको जल पीनेसे रोकनेवाले, रजस्वलासे रति करनेवाले, कन्या बेचनेवाले तथा दान देनेकी प्रतिज्ञा करके लोभवश न देनेवाले जिन नरकोंमें जाते हैं, वे ही मुझे मिलें, यदि मैं कल जयद्रथको न मारूँ। यदि कल सूर्यास्ततक मैं जयद्रथको न मार सका तो चिता बनाकर उसमें जल जाऊँगा।'

भक्तके प्रणकी चिन्ता भगवान्को ही होती है। अर्जुनने तो श्रीकृष्णचन्द्रसे कह दिया—'आपकी कृपासे मुझे किसीकी चिन्ता नहीं। मैं सबको जीत लूँगा।' बात सच है; अर्जुनने अपने रथकी, अपने जीवनकी बागडोर जब मधुसूदनके हाथोंमें दे दी, तब वह क्यों चिन्ता करे। दूसरे दिन घोर संग्राम हुआ। श्रीकृष्णचन्द्रको अर्जुनकी प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिये सारी व्यवस्था करनी पड़ी। सायंकाल श्रीहरिने सूर्यको ढककर अन्धकार कर दिया। सूर्यास्त हुआ समझकर अर्जुन चितामें प्रवेश करनेको उद्यत हुए। सभी कौरवपक्षके महारथी उन्हें इस दशामें देखने आ गये। उन्हींमें जयद्रथ भी आ गया। भगवान्ने कहा—'अर्जुन! शीघ्रता करो। जयद्रथका मस्तक काट लो, पर वह भूमिपर न गिरे! सावधान!' भगवान्ने अन्धकार दूर कर दिया। सूर्य अस्ताचल जाते दिखायी पड़े। जयद्रथके रक्षक चकरा गये। अर्जुनने उसका सिर काट लिया। श्रीकृष्णने बताया—'जयद्रथके पिताने तप करके शंकरजीसे वरदान पाया है कि जो जयद्रथका सिर भूमिपर गिरायेगा, उसके सिरके सौ टुकड़े हो जायँगे।' केशवके आदेशसे अर्जुनने जयद्रथका सिर बाणसे ऊपर-ही-ऊपर उड़ाकर जहाँ उसके पिता सन्ध्याके समय सूर्योपस्थान कर रहे थे, वहाँ पहुँचाकर उनकी अंजलिमें गिरा दिया। झिझक उठनेसे पिताके द्वारा ही सिर भूमिपर गिरा। फलतः उनके सिरके सौ टुकड़े हो गये।

× × ×

इन्द्रने कर्णको एक अमोघ शक्ति दी थी। एक ही बार उस शक्तिका कर्ण प्रयोग कर सकते थे। नित्य रात्रिको वे संकल्प करते थे दूसरे दिन अर्जुनपर उसका प्रयोग करनेके लिये, किंतु श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें सम्मोहित कर देते थे। वे शक्तिका प्रयोग करना भूल जाते थे। भगवान्ने भीमके पुत्र घटोत्कचको रात्रि-युद्धके लिये भेजा। उसने राक्षसी मायासे कौरव-सेनामें 'त्राहि-त्राहि' मचा दी। दुर्योधनादिने कर्णको विवश किया—'यह

राक्षस अभी सबको मार देगा। यह जब दीखता ही नहीं, तब इसके साथ युद्ध कैसे हो, इसे चाहे जैसे भी हो मारो।' अन्तमें कर्णने वह शक्ति घटोत्कचपर छोड़ी। वह राक्षस मर गया। घटोत्कचकी मृत्युसे जब पाण्डव दुखी हो रहे थे, तब श्रीकृष्णको प्रसन्न होते देख अर्जुनने कारण पूछा। भगवान्‌ने बताया—'कर्णने तुम्हारे लिये ही शक्ति रख छोड़ी थी। शक्ति न रहनेसे अब वह मृत-सा ही है। घटोत्कच ब्राह्मणोंका द्वेषी, यज्ञद्रोही, पापी और धर्मका लोप करनेवाला था; उसे तो मैं स्वयं मार डालता; किंतु तुमलोगोंको बुरा लगेगा, इसलिये अबतक छोड़ दिया था।'

कर्णसे युद्धमें अर्जुनने अपने सखासे पूछा—'यदि कर्ण मुझे मार डाले तो आप क्या करेंगे?' भगवान्‌ने कहा—'चाहे सूर्य भूमिपर गिर पड़े, समुद्र सूख जाय, अग्नि शीतल बन जाय, पर ऐसा कभी नहीं होगा। यदि किसी प्रकार कर्ण तुम्हें मार दे तो संसारमें प्रलय हो जायगी। मैं अपने हाथोंसे ही कर्ण और शल्यको मसल डालूँगा।'

भगवान्‌ने तो बहुत पहले घोषणा की थी—'जो पाण्डवोंके मित्र हैं, वे मेरे मित्र हैं और जो पाण्डवोंके शत्रु हैं, वे मेरे शत्रु हैं।' उन भक्तवत्सलके लिये भक्त सदासे अपने हैं। जो भक्तोंसे द्रोह करते हैं, श्रीकृष्ण सदा ही उनके विपक्षी हैं।

कर्णने अनेक प्रयत्न किये। उसने सर्पमुख बाण छोड़ा, दिशाओंमें अग्नि लग गयी। दिनमें ही तारे टूटने लगे। खाण्डवदाहके समय बचकर निकला हुआ अर्जुनका शत्रु अश्वसेन नामक नाग भी अपना बदला लेने उसी बाणकी नोकपर चढ़ बैठा। बाण अर्जुनतक आये, इससे पहले ही भगवान्‌ने रथको अपने चरणोंसे दबाकर पृथ्वीमें धँसा दिया। बाण केवल अर्जुनके मुकुटमें लगा, जिससे मुकुट भूमिपर जलता हुआ गिर पड़ा।

महाभारतके युद्धमें इस प्रकार अनेक अवसर आये, अनेक बार अर्जुनकी बुद्धि तथा शक्ति कुण्ठित हुई। किंतु धर्मात्मा धैर्यशाली अर्जुनने कभी धर्म नहीं छोड़ा। उनके पास एक ही बाणसे प्रलय कर देनेवाला पाशुपतास्त्र था; परंतु प्राण संकटमें होनेपर भी उसको काममें लेनेकी उन्होंने इच्छा नहीं की। इसी प्रकार श्रीकृष्णके चरणोंमें उनका विश्वास एक पलको भी शिथिल नहीं हुआ। इसी प्रेम और विश्वासने भगवान्‌को बाँध लिया था। भगवान् उनका रथ हाँकते, घोड़े धोते और आपत्तिमें सब प्रकार उनकी रक्षा करते। श्रीकृष्णके प्रतापसे ही पाण्डव महाभारतके युद्धमें विजयी हुए। विजय हो जानेपर अन्तिम दिन छावनीपर आकर भगवान्‌ने अर्जुनको रथसे पहले उतरनेको कहा। आज यह नयी बात थी, पर अर्जुनने आज्ञापालन किया। अर्जुनके उतरनेपर जैसे ही भगवान् उतरे कि रथकी ध्वजापर बैठा दिव्य वानर भी अदृश्य हो गया और वह रथ घोड़ोंके साथ तत्काल भस्म हो गया। भगवान्‌ने बताया—'दिव्यास्त्रोंके प्रभावसे यह रथ भस्म तो कभीका हो चुका था। अपनी शक्तिसे मैं इसे अबतक बचाये हुए था। आज तुम पहले न उतर जाते तो रथके साथ ही भस्म हो जाते।'

× × × ×

अश्वत्थामाने जब ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया, तब भगवान्‌ने ही पाण्डवोंकी रक्षा की। अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रके तेजसे उत्तराका गर्भस्थ बालक मरा हुआ उत्पन्न हुआ, उसे श्रीकृष्णचन्द्रने जीवित कर दिया। सुधन्वाको मारनेकी अर्जुनने प्रतिज्ञा कर ली, तब भी मधुसूदनने ही उनकी रक्षा की।

द्वारकामें एक ब्राह्मणका पुत्र उत्पन्न होते ही मर जाया करता था। दु:खी ब्राह्मण मृत शिशुका शव राजद्वारपर रखकर बार-बार पुकारता—'पापी, ब्राह्मणद्रोही, शठ, लोभी राजाके पापसे ही मेरे पुत्रकी मृत्यु हुई है। जो राजा हिंसारत, दुश्चरित्र, अजितेन्द्रिय होता है, उसकी प्रजा कष्ट पाती है और दरिद्र रहती है।' ब्राह्मणके आठ बालक इसी प्रकार मर गये। किसीके किये कुछ होता नहीं था। जब नवें बालकका मृत

शव लेकर वह ब्राह्मण आया, तब अर्जुन राजभवनमें ही थे। वे श्रीकृष्णके साथ द्वारका आये हुए थे। उन्होंने ब्राह्मणकी करुण पुकार सुनी तो पास आकर कारण पूछा और आश्वासन दिया। उन्होंने कहा कि 'मैं आपकी रक्षा करूँगा।' ब्राह्मणने अविश्वास प्रकट किया तो अर्जुनने प्रतिज्ञा की—'यदि आपके बालकको न बचा सकूँ तो मैं अग्निमें प्रवेश करके शरीर त्याग दूँगा।'

दसवें बालकके उत्पन्न होनेके समय ब्राह्मणने समाचार दिया। उसके घर जाकर अर्जुनने सूतिकागारको ऊपर-नीचे चारों ओर बाणोंसे इस प्रकर ढक दिया कि उसमेंसे चींटी भी न जा सके। परंतु इस बार बड़ी विचित्र बात हुई। बालक उत्पन्न हुआ, रोया और फिर सशरीर अदृश्य हो गया। ब्राह्मण अर्जुनको धिक्कारने लगा। वे महारथी कुछ बोले नहीं। उनमें अब भी अहंकार था। भगवान्‌से भी उन्होंने कुछ नहीं कहा। योगविद्याका आश्रय लेकर वे यमपुरी गये। वहाँ ब्राह्मणपुत्र न मिला तो इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, चन्द्र, वायु, वरुण आदि लोकपालोंके धाम, अतल, वितल आदि नीचेके लोक भी ढूँढ़े; परंतु कहीं भी उन्हें ब्राह्मणका पुत्र नहीं मिला। अन्तमें द्वारका आकर वे चिता बनाकर जलनेको तैयार हो गये।

भगवान्‌ने अब उन्हें रोका और कहा—'मैं तुम्हें द्विजपुत्र दिखलाता हूँ, मेरे साथ चलो।' भगवान्‌को तो अर्जुनमें जो अपनी शक्तिका गर्व था, उसे दूर करना था। वह दूर हो चुका था; अब अपने दिव्यरथमें अर्जुनको बैठाकर भगवान्‌ने सातों द्वीप, सभी पर्वत और सातों समुद्र पार किये। लोकालोक पर्वतको पार करके अन्धकारमय प्रदेशमें अपने चक्रके तेजसे मार्ग बनाकर अनन्त जलके समुद्रमें पहुँचे। अर्जुन वहाँकी दिव्य ज्योति देखनेमें असमर्थ थे, अत: नेत्र बन्द कर लिये। इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनको लेकर भगवान् शेषशायीके समीप पहुँचे। अर्जुनने वहाँ भगवान् अनन्त—शेषजीकी शय्यापर सोये नारायणके दर्शन किये। उन भूमा पुरुषने दोनोंका सत्कार करके उन्हें ब्राह्मणके बालक देते हुए कहा—'तुमलोगोंको देखनेके लिये ही मैंने ये बालक यहाँ मँगाये थे। तुम नारायण और नर हो। मेरे ही स्वरूप हो। पृथ्वीपर तुम्हारा कार्य पूरा हो गया। अब शीघ्र यहाँ आ जाओ।' वहाँसे आज्ञा लेकर दोनों लौट आये। अर्जुनने ब्राह्मणको बालक देकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की।

× × × ×

महाभारतके तो मुख्य नायक ही श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं। अर्जुनकी शूरता, धर्मनिष्ठा, उदारता, भगवद्भक्ति तथा उनपर भगवान् मधुसूदनकी कृपाका महाभारतमें विस्तारसे वर्णन है। दूसरे पुराणोंमें भी अर्जुनका चरित है। उन ग्रन्थोंको अवश्य पढ़ना चाहिये। यहाँ तो थोड़े-से चरित संकेतरूपसे दिये गये हैं। अर्जुन भगवान्‌के नित्य पार्षद हैं। नारायणके नित्य संगी नर हैं। धर्मराज युधिष्ठिर जब परम धाम गये, तब वहाँ अर्जुनको उन्होंने भगवान्‌के पार्षदोंमें देखा। दुर्योधनतकने कहा—'अर्जुन श्रीकृष्णकी आत्मा हैं और श्रीकृष्ण अर्जुनकी आत्मा हैं। श्रीकृष्णके बिना अर्जुन जीवित नहीं रहना चाहते और अर्जुनके लिये श्रीकृष्ण अपना दिव्यलोक भी त्याग सकते हैं। भगवान् स्वयं अर्जुनको अपना प्रिय सखा और परम इष्टतक कहते रहे हैं और उन्होंने अपना और अर्जुनका प्रेम बने रहने तथा बढ़नेके लिये अग्निसे वरदानतक चाहा था।'

सभी पाण्डव धर्मात्मा, उदार, विनयी, ब्राह्मणोंके भक्त तथा भगवान्‌को परम प्रिय थे; किंतु अर्जुन तो श्रीकृष्णचन्द्रसे अभिन्न, उन श्यामसुन्दरके समवयस्क सखा और उनके प्राण ही थे। श्रीकृष्णचन्द्र क्यों अर्जुनको इतना चाहते थे, क्यों उनके प्राण धनंजयमें ही बसते थे—इस प्रसंगमें एक कथा इस प्रकार है—

एक बार कैलासके शिखरपर श्रीगौरीशंकर भगवद्भक्तोंके विषयमें कुछ वार्तालाप कर रहे थे। उसी प्रसंगमें जगज्जननी श्रीपार्वतीजीने आशुतोष श्रीभोलेबाबासे निवेदन किया—'भगवन्! जिन भक्तोंकी आप

इतनी महिमा वर्णित करते हैं, उनमेंसे किसीके दर्शन करानेकी कृपा कीजिये। आपके श्रीमुखसे भक्तोंकी महिमा सुनकर मेरे चित्तमें बड़ा आह्लाद हुआ है।'

प्राणप्रिया उमाके ये वचन सुनकर श्रीभोलेनाथ उन्हें साथ लेकर इन्द्रप्रस्थको चले और वहाँ कृष्ण-सखा अर्जुनके महलके द्वारपर जाकर द्वारपालसे पूछा—'कहो, इस समय अर्जुन कहाँ हैं?' उसने कहा—'इस समय महाराज शयनागारमें पौढ़े हुए हैं।' यह सुनकर पार्वतीजीने उतावलीमें कहा, 'तो अब हमें उनके दर्शन कैसे हो सकेंगे?' प्रियाको अधीर देखकर श्रीमहादेवजीने कहा—'देवि! भक्तको उसके इष्टदेव भगवान्‌के द्वारा ही जगाना चाहिये, अतः मैं इसका प्रयत्न करता हूँ।' तदनन्तर उन्होंने समाधिस्थ होकर प्रेमाकर्षणद्वारा आनन्दकन्द श्रीव्रजचन्द्रको बुलाया और कहा, 'भगवन्! कृपया अपने भक्तको जगा दीजिये, देवी पार्वती उनका दर्शन करना चाहती हैं।' श्रीमहादेवजीके कहनेसे श्यामसुन्दर तुरंत ही मित्र उद्धव, देवी रुक्मिणी और सत्यभामासहित अर्जुनके शयनागारमें गये। भाई कृष्णको आया देखकर सुभद्रा हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुईं और उनकी जगह श्रीसत्यभामाजी विराजमान होकर पंखा डुलाने लगीं। गरमी अधिक थी, इसलिये भगवान्‌का संकेत पाकर उद्धवजी भी पंखा हाँकने लगे। इतनेमें ही अकस्मात् सत्यभामा और उद्धव चकित-से होकर एक-दूसरेकी ओर ताकने लगे। भगवान्‌ने पूछा, तुमलोग किस विचारमें पड़े हो? उन्होंने कहा—'महाराज! आप अन्तर्यामी हैं, सब जानते हैं; हमसे क्या पूछते हैं?' भगवान् श्रीकृष्ण बोले, 'बताओ तो सही, क्या बात है?' तब उद्धवने कहा कि 'अर्जुनके प्रत्येक रोमसे 'श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण' की आवाज आ रही है। रुक्मिणीजी पैर दबा रही थीं, वे बोलीं—'महाराज! पैरोंसे भी वही आवाज आती है!' भगवान्‌ने समीप जाकर सुना तो उन्हें भी स्पष्ट सुनायी दिया कि अर्जुनके शरीरके प्रत्येक रोमसे यही 'जय कृष्ण-कृष्ण, जय कृष्ण-कृष्ण' की ध्वनि निकल रही है। तब तो भगवान् उसे जगाना भूलकर स्वयं भी उसके प्रेम-पाशमें बँध गये और गद्‌गद होकर स्वयं उसके चरण दबाने लगे।

इधर महादेव और पार्वतीको प्रतीक्षा करते हुए जब बहुत देर हो गयी, तब उन्होंने ब्रह्माजीको बुलाकर अर्जुनको जगानेके लिये भेजा। किंतु अन्तःपुरमें पहुँचनेपर ब्रह्माजी भी अर्जुनके रोम-रोमसे 'कृष्ण-कृष्ण'की ध्वनि सुनकर और स्वयं भगवान्‌को अपने भक्तके पाँव पलोटते देखकर अपने प्रेमावेशको न रोक सके एवं अपने चारों मुखोंसे वेद-स्तुति करने लगे। जब ब्रह्माजीकी प्रतीक्षामें भी श्रीमहादेव और पार्वतीको बहुत समय हो गया, तब उन्होंने देवर्षि नारदजीका आवाहन किया। अबकी बार वे अर्जुनको जगानेका बीड़ा उठाकर चले। किंतु शयनागारका अद्भुत दृश्य देख-सुनकर उनसे भी न रहा गया। वे भी अपनी वीणाकी खूँटियाँ कसकर हरि-कीर्तनमें तल्लीन हो गये। जब उनके कीर्तनकी ध्वनि भगवान् शंकरके कानमें पड़ी तो उनसे और अधिक प्रतीक्षा न हो सकी; वे भी पार्वतीजीके साथ तुरंत ही अन्तःपुरमें पहुँच गये। वहाँ अर्जुनके रोम-रोमसे 'जय कृष्ण, जय कृष्ण' का मधुर नाद सुनकर उनसे भी न रहा गया। उन्होंने भी अपना त्रिभुवन-मोहन ताण्डव-नृत्य आरम्भ कर दिया; साथ ही श्रीपार्वतीजी भी स्वर और तालके साथ सुमधुर वाणीसे हरि-गुण गाने लगीं। इस प्रकार वह सम्पूर्ण समाज प्रेमोन्मत्त हो गया। भक्तराज अर्जुनके प्रेम-प्रवाहने सभीको सराबोर कर दिया। धन्य हैं अर्जुन और धन्य है उनकी सख्य भक्ति!

श्रीबलिजी

भगवान्‌के चरणकमलोंमें अपना सर्वस्व और स्वयंको भी समर्पित कर देनेवाले भक्तोंमें श्रीबलिजी अग्रगण्य हैं। भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने महाराज बलिके सर्वस्व-समर्पण और आत्मसमर्पणकी घटनाको अपने निम्न कवित्तमें इस प्रकार प्रकट किया है—

दियो सरबसु करि अति अनुराग बलि पागि गयो हियो प्रहलाद सुधि आई है।
गुरु भरमावैं नीति कहि समुझावैं बोलि उर में न आवैं केती भीति उपजाई है॥
कयो जोई कियो सांचो भाव पन लियो अहो दीयो डर हरिहूं ने मति न चलाई है।
रीझे प्रभु रहे द्वार भये बस हारि मानी श्रीशुक बखानी प्रीति रीति सोई गाई है॥ १०२॥

राजा बलिने बड़े प्रेमके साथ वामनभगवान्को अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। इनका हृदय भक्तिभावमें मग्न हो गया। इन्हें अपने पितामह भक्तवर प्रह्लादकी याद आ गयी कि उन्होंने कितने संकट सहे थे, अभी मेरे ऊपर वैसा एक भी संकट नहीं आया है। नीतिका उपदेश दे-देकर गुरु शुक्राचार्य भी बहकाने और समझाने लगे कि ये भिक्षुक ब्रह्मचारी नहीं हैं। ये तो साक्षात् विष्णु हैं, ये विराट् रूप धारण करेंगे और तुम्हारा सब ले लेंगे। ये बातें बलिकी समझमें नहीं आयीं। तब शुक्राचार्यजीने भय दिखाया कि ये तुम्हें पृथ्वीपर नहीं रहने देंगे। परंतु राजा बलिने जो तीन पग पृथ्वी दान करनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसीपर डटे रहे और उन्होंने पूर्ण भी किया। राजा बलिने प्रेमभावसे परिपूर्ण प्रणको धारण किया था। फिर पृथ्वी और स्वर्गको दो पगोंसे नापकर भगवान्ने कहा कि तीसरा पग कहाँ रखूँ? तुमने तीन पग भूमि देनेकी प्रतिज्ञा की थी, वह पूरी नहीं हुई। अतः असत्य-भाषणके पापसे अब तुम्हें नरकमें जाना पड़ेगा। इस प्रकार भगवान्के धमकानेपर भी राजाकी बुद्धि चलायमान नहीं हुई। राजाने कहा—भगवन्! तीसरा पैर मेरे सिरपर रखिये। राजाकी इस आत्मसमर्पण भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् इनके द्वारपाल बने। अपनी हार मानकर भगवान् बलिके अधीन हो गये। उनकी भक्तिकी रीतिका श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्भागवतमें वर्णन किया है॥ १०२॥

महाराज बलिसे सम्बन्धित विवरण छप्पय ५ में वामनावतारके प्रसंगमें भी आया है।

भगवत्प्रसादके तत्त्वको जाननेवाले श्रेष्ठ भक्त

संकर सुक सनकादि कपिल नारद हनुमाना।
बिष्वकसेन प्रहलाद बलि रु भीषम जग जाना॥
अर्जुन ध्रुव अँबरीष बिभीषन महिमा भारी।
अनुरागी अक्रूर सदा उद्धव अधिकारी॥
भगवत भुक्त अवशिष्ट की कीरति कहन सुजान।
हरि प्रसाद रस स्वाद के भक्त इते परमान॥ १५॥

भगवान्को अर्पण करके प्रसादके रसका स्वाद लेनेवाले ये सोलह भक्त परमश्रेष्ठ हैं—शंकरजी, शुकदेवजी, सनकादिकजी, कपिलजी, नारदजी, हनुमान्जी, विष्वक्सेनजी, प्रह्लादजी, बलिजी, भीष्मजी, अर्जुनजी, ध्रुवजी, अम्बरीषजी, विभीषणजी, अक्रूरजी और उद्धवजी। इनको सम्पूर्ण जगत् जानता है, इनकी बड़ी भारी महिमा है। ये सभी सर्वदा प्रसादके अधिकारी हैं। ये भगवत्प्रसादकी महिमाको भलीभाँति जानते हैं, उसका वर्णन करते रहते हैं। भगवान्का भोग लगाकर प्रसाद इन्हें अवश्य अर्पण करना चाहिये॥ १५॥

उपर्युक्त छप्पयमें वर्णित भगवत्प्रसादके रसिक भक्तोंका विवरण क्रमशः शंकरजी छप्पय ७, शुकदेवजी छप्पय ७, सनकादिकजी छप्पय ७, कपिलजी छप्पय ७, नारदजी छप्पय ७, हनुमान्जी छप्पय ९, विष्वक्सेनजी छप्पय ३०, प्रह्लादजी छप्पय १४, बलिजी छप्पय ७, भीष्मजी छप्पय ७, अर्जुनजी

छप्पय १४, ध्रुवजी छप्पय ९, अम्बरीषजी छप्पय ९, विभीषणजी छप्पय ९, अक्रूरजी छप्पय ९, उद्धवजी छप्पय ९ में भी आया है।

भगवत्प्रसादकी महिमा

भगवान्‌को भक्तिपूर्वक अर्पित किये हुए पत्र, पुष्प, फल, जल आदिकी 'प्रसाद' संज्ञा होती है। भगवदर्चन करते समय प्रभुको समर्पण किया हुआ प्रत्येक पदार्थ भगवान्‌की साकार बनी हुई प्रत्यक्ष कृपा ही है—इसी दृढ़ भावनासे उसका ग्रहण-सेवन करना चाहिये। **'प्रसादोऽनुग्रहः', 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' 'प्रसन्नस्य भावः प्रसादः'** आदिका यही तात्त्विक अर्थ है; क्योंकि भगवत्प्रसाद स्वयं भगवद्रूप ही होता है—

प्रसादं जगदीशस्य ह्यन्नपानादिकं च यत्।
ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथा विष्णुस्तथैव तत्॥

अर्थात् जैसे भगवान्‌का दर्शन, स्पर्श आदि महामंगलकारी है, वैसे ही प्रसाद भी। परम वैष्णव सन्त श्रीभगवतरसिकजी महाराज कहते हैं—

यह दिव्य प्रसाद प्रिया प्रिय को।
दरशत ही मन मोद बढ़ावत परसत पाप हरत हिय को॥
पावत परम प्रेम उपजावत भुलवत भाव पुरुषतिय को।
'भगवतरसिक' भावतो भूषण तिहि क्षण होत युगल जिय को॥

वृन्दावनके परम रसिक सन्त श्रीहरिराम व्यासजी महाराजकी तो भगवत्प्रसादके प्रति अद्भुत निष्ठा थी। वे कहते थे—

हमारी जीवनमूरि प्रसाद।
अतुलित महिमा कहत भागवत, मेटत सब प्रतिवाद॥
जो षटमास व्रतनि कीनें फल, सो एक सीथ के स्वाद।
दरसन पाप नसात, खात सुख, परषत मिटत विषाद॥
देत-लेत जो करै अनादर, सो नर अधम गवाद।
श्रीगुरु सुकल प्रताप 'व्यास' यह रस पायौ अनहाद॥

भगवत्प्रसादकी श्रेष्ठता और उसके प्रति अनन्य भाव प्रदर्शित करते हुए वे आगे कहते हैं कि वृन्दावन-क्षेत्रसे इतरके किसी ब्राह्मणद्वारा लायी गयी मिठाई भी उन्हें ग्राह्य नहीं है, जबकि वृन्दावनके श्वपचद्वारा लाया गया भगवत्प्रसाद और सन्तोंकी सीथ प्रसादीकी जूठन भी उनके लिये वरेण्य है—

'व्यास' मिठाई विप्र की तामें लागै आग।
वृन्दावन के स्वपच की जूठिन खैये माँग॥

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि श्रीभगवान्‌द्वारा उपभुक्त माला, चन्दन, वस्त्र, अलंकार, नैवेद्य आदिका जो भक्त सेवन करते हैं, उनपर मायाका प्रभाव नहीं पड़ता है—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि॥

इसी प्रकार भगवत्प्रसादकी महिमाका वर्णन करते हुए पद्मपुराणमें कहा गया है कि जो भगवान्‌के सम्मुख निवेदित, तुलसीमिश्रित और विशेष रूपसे चरणामृतसे भीगे हुए नैवेद्य अन्नको नित्य खाता है, वह

करोड़ों यज्ञोंके पुण्यको प्राप्त करता है—

> **नैवेद्यमन्नं तुलसीविमिश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम्।**
> **योऽश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम्॥**

इस प्रकार भगवत्प्रसादकी अमित महिमा है, भक्तोंके लिये तो वह जीवन-धन होता है, तभी तो कहा जाता है—*'जगन्नाथका भात, जगत पसारे हाथ।'*

भक्ति तथा ज्ञानके प्रकाशक आचार्य

पुलह अगस्त्य पुलस्त्य च्यवन सौभरि बसिष्ठ रिषि।
कर्दम अत्रि रिचीक गर्ग गौतम सुब्यास सिषि॥
लोमस भृगु दालभ्य अंगिरा सृंगि प्रकासी।
मांडब बिस्वामित्र द्रुबासा सहस अठासी॥
जाबालि जमदग्नि मायादर्श कस्यप परबत पारासर पद रज धरौं।
ध्यान चतुर्भुज चित धर्‍यो तिन्हें सरन हौं अनुसरौं॥ १६॥

जिन भक्तोंने भगवान्‌के चतुर्भुजरूपका ध्यान अपने हृदयमें धारण किया, मैं उनकी शरणमें हूँ। वे हमारे सब प्रकारसे रक्षक हैं। पुलहजी, अगस्त्यजी, पुलस्त्यजी, च्यवनजी, सौभरिजी, वसिष्ठजी, कर्दमजी, अत्रिजी, ऋचीकजी, गर्गजी, गौतमजी, व्यासजीके शिष्य, लोमशजी, भृगुजी, दाल्भ्यजी, अंगिराजी, ऋष्यशृंगजी, माण्डव्यजी, विश्वामित्रजी, दुर्वासाजी, शौनकादि अट्ठासी हजार ऋषि, जाबालिजी, जमदग्निजी, मार्कण्डेयजी, कश्यपजी, पर्वतजी और पराशरजी—इनके चरणोंकी रज मैं अपने सिरपर चढ़ाता हूँ। ये ऋषिगण बड़े तपस्वी हैं। मोहरूपी अन्धकारको दूर करनेके लिये सदा ज्ञान-भक्तिका प्रकाश करते रहते हैं॥ १६॥

यहाँ भक्ति तथा ज्ञानके प्रकाशक इन आचार्योंका संक्षेपमें वर्णन प्रस्तुत है—

महर्षि पुलह

महर्षि पुलह भी ब्रह्माके मानसपुत्र और षोडश प्रजापतियोंमें एक हैं। ये भी अन्यान्य ऋषियोंकी भाँति जगत्‌के हितसाधनमें लगे रहते हैं। इन्होंने अपने पिता ब्रह्माजीकी आज्ञासे दक्षप्रजापतिकी और महर्षि कर्दमकी कन्याओंको पत्नीरूपसे ग्रहण करके सृष्टिकी वृद्धि की। अनेकों योनि और जातियोंकी संतान इनसे हुई। इन्होंने महर्षि सनन्दनकी शरण ग्रहण करके सम्प्रदायकी रक्षा करते हुए तत्त्वज्ञानका सम्पादन किया और फिर अपने शरणागत जिज्ञासु गौतमको उसका दान करके जगत्‌में उसका विस्तार किया।* जगत्‌की आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शान्तिके लिये ये निरन्तर तपस्यामें संलग्न रहते हैं। पुराणोंमें इनकी चर्चा स्थान-स्थानपर आयी है।

अगस्त्य

महर्षि अगस्त्य वेदोंके मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें विभिन्न प्रकारकी कथाएँ मिलती हैं। कहीं मित्रावरुणके द्वारा वसिष्ठके साथ घड़ेमेंसे पैदा होनेकी बात आती है तो कहीं पुलस्त्यकी पत्नी

---

* ये महर्षि शिवजीके बड़े भक्त थे। इन्होंने काशीमें पुलहेश्वर नामक लिंगकी स्थापना की है, जो अद्यावधि विद्यमान है। इनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर स्वयं भगवान् शिवने अपना श्रीविग्रह प्रकट किया था।

हविर्भूके गर्भसे विश्रवाके साथ इनकी उत्पत्तिका वर्णन आता है। किसी-किसी ग्रन्थके अनुसार स्वायम्भुव मन्वन्तरमें पुलस्त्यतनय दत्तोलि ही अगस्त्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। ये सभी बातें कल्पभेदसे ठीक उतरती हैं। इनके विशाल जीवनकी समस्त घटनाओंका वर्णन नहीं किया जा सकता। यहाँ संक्षेपतः दो-चार घटनाओंका उल्लेख किया जाता है।

एक बार विन्ध्याचलने गगनपथगामी सूर्यका मार्ग रोक लिया। इतना ऊँचा हो गया कि सूर्यके आने-जानेका स्थान ही न रहा। सूर्य महर्षि अगस्त्यके शरणागत हुए। अगस्त्यने उन्हें आश्वासन दिया और स्वयं विन्ध्याचलके पास उपस्थित हुए। विन्ध्याचलने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे उन्हें नमस्कार किया। महर्षि अगस्त्यने कहा—'भैया, मुझे तीर्थोंमें पर्यटन करनेके लिये दक्षिण दिशामें जाना आवश्यक है। परंतु तुम्हारी इतनी ऊँचाई लाँघकर जाना बड़ा कठिन प्रतीत होता है, इसलिये कैसे जाऊँ?' उनकी बात सुनते ही विन्ध्याचल उनके चरणोंमें लोट गया। बड़ी सुगमतासे महर्षि अगस्त्यने उसे पार करके कहा कि अब जबतक मैं न लौटूँ, तुम इसी प्रकार पड़े रहना। विन्ध्याचलने बड़ी नम्रता और प्रसन्नताके साथ उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। तबसे महर्षि अगस्त्य लौटे ही नहीं और विन्ध्याचल उसी प्रकार पड़ा हुआ है। अगस्त्यने जाकर उज्जयिनी नगरीके शूलेश्वरतीर्थकी पूर्व दिशामें एक कुण्डके पास शिवजीकी आराधना की। भगवान् शिवने प्रसन्न होकर उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। आज भी भगवान् शंकरकी मूर्ति वहाँ अगस्त्येश्वरके नामसे प्रसिद्ध है।

एक बार भ्रमण करते-करते महर्षि अगस्त्यने देखा कि कुछ लोग नीचे मुँह किये हुए कुएँमें लटक रहे हैं। पता लगानेपर मालूम हुआ कि ये उन्हींके पितर हैं और उनके उद्धारका उपाय यह है कि वे संतान उत्पन्न करें। बिना ऐसा किये पितरोंका कष्ट मिटना असम्भव था। अतः उन्होंने विदर्भराजसे पैदा हुई अपूर्व सुन्दरी और परम पतिव्रता लोपामुद्राको पत्नीके रूपमें स्वीकार किया। उस समय इल्वल और वातापी नामके दो दैत्योंने बड़ा उपद्रव मचा रखा था। वे ऋषियोंको अपने यहाँ निमन्त्रित करते और वातापी स्वयं भोजन बन जाता और जब ऋषिलोग खा-पी चुकते तब इल्वल बाहरसे उसे पुकारता और वह उनका पेट फाड़कर निकल आता। इस प्रकार महान् ब्राह्मणसंहार चल रहा था। भला, महर्षि अगस्त्य इसे कैसे सहन कर सकते थे? वे भी एक दिन उनके यहाँ अतिथिके रूपमें उपस्थित हुए और फिर तो सर्वदाके लिये उसे पचा गये। इस प्रकार लोकका महान् कल्याण हुआ।

एक बार जब इन्द्रने वृत्रासुरको मार डाला तब कालेय नामके दैत्योंने समुद्रका आश्रय लेकर ऋषि-मुनियोंका विनाश करना शुरू किया। वे दैत्य दिनमें तो समुद्रमें रहते और रातमें निकलकर पवित्र जंगलोंमें रहनेवाले ऋषियोंको खा जाते। उन्होंने वसिष्ठ, च्यवन, भरद्वाज—सभीके आश्रमोंपर जा-जाकर हजारोंकी संख्यामें ऋषि-मुनियोंका भोजन किया था। अब देवताओंने महर्षि अगस्त्यकी शरण ग्रहण की, तब उनकी प्रार्थनासे और लोगोंकी व्यथा और हानि देखकर उन्होंने अपने एक चुल्लूमें ही सारे समुद्रको पी लिया। तब देवताओंने जाकर कुछ दैत्योंका वध किया और कुछ भागकर पाताल चले गये।

एक बार ब्रह्महत्याके कारण इन्द्रके स्थानच्युत होनेके कारण राजा नहुष इन्द्र हुए थे। इन्द्र होनेपर अधिकारके मदसे मत्त होकर उन्होंने इन्द्राणीको अपनी पत्नी बनानेकी चेष्टा की, तब बृहस्पतिकी सम्मतिसे इन्द्राणीने एक ऐसी सवारीसे आनेकी बात कही, जिसपर अबतक कोई सवार न हुआ हो। मदमत्त नहुषने सवारी ढोनेके लिये ऋषियोंको ही बुलाया। ऋषियोंको तो सम्मान-अपमानका कुछ खयाल था ही नहीं। आकर सवारीमें जुत गये। जब सवारीपर चढ़कर नहुष चले तब शीघ्रातिशीघ्र पहुँचनेके लिये हाथमें कोड़ा

लेकर 'जल्दी चलो! जल्दी चलो! (सर्प, सर्प)' कहते हुए उन ब्राह्मणोंको विताड़ित करने लगे। यह बात महर्षि अगस्त्यसे देखी नहीं गयी। वे इसके मूलमें नहुषका अध:पतन और ऋषियोंका कष्ट देख रहे थे। उन्होंने नहुषको उसके पापोंका उचित दण्ड दिया। शाप देकर उसे एक महाकाय सर्प बना दिया और इस प्रकार समाजकी मर्यादा सुदृढ़ रखी तथा धनमद और पदमदके कारण अन्धे लोगोंकी आँखें खोल दीं।

भगवान् श्रीराम वनगमनके समय इनके आश्रमपर पधारे थे और इन्होंने बड़ी श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेमसे उनका सत्कार किया और उनके दर्शन, आलाप तथा संसर्गसे अपने ऋषिजीवनको सफल किया। साथ ही ऋषिने उन्हें कई प्रकारके शस्त्रास्त्र दिये और सूर्योपस्थानकी पद्धति बतायी। लंकाके युद्धमें उनका उपयोग करके स्वयं भगवान् श्रीरामने उनके महत्त्वकी अभिवृद्धि की। प्रेमलक्षणा भक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप भक्त सुतीक्ष्ण इन्हींके शिष्य थे। उनकी तन्मयता और प्रेमके स्मरणसे आज भी लोग भगवान्की ओर अग्रसर होते हैं। लंकापर विजय प्राप्त करके जब भगवान् श्रीराम अयोध्याको लौट आये और उनका राज्याभिषेक हुआ तब महर्षि अगस्त्य वहाँ आये और उन्होंने भगवान् श्रीरामको अनेकों प्रकारकी कथाएँ सुनायीं। वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डकी अधिकांश कथाएँ इन्हींके द्वारा कही हुई हैं। इन्होंने उपदेश और सत्संकल्पके द्वारा अनेकोंका कल्याण किया। इनके द्वारा रचित अगस्त्यसंहिता नामका एक रामोपासना-सम्बन्धी बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है।

पुलस्त्य

महर्षि पुलस्त्य भी पूर्वोक्त ऋषियोंकी भाँति ब्रह्माके मानसपुत्र हैं। ये भी अपनी तपस्या, ज्ञान और दैवी सम्पत्तिके द्वारा जगत्के कल्याणसम्पादनमें लगे रहते हैं। इनका प्रभाव इतना अधिक है कि जब एक बार अपनी दुष्टताके कारण रावणको कार्तवीर्य सहस्रार्जुनके यहाँ बन्दी होना पड़ा था तब इन्होंने उनसे कहा कि इस बेचारेको मुक्त कर दो और इनकी आज्ञा सुनते ही वह सहस्रार्जुन जिसके सामने बड़े-बड़े देवता और वीर पुरुष नतमस्तक हो जाते थे, इनकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सका। इनके तपोबलके सामने बरबस उसका सिर झुक गया। पुलस्त्यकी सन्ध्या, प्रतीची आदि कई स्त्रियाँ थीं और दत्तोलि आदि कई पुत्र थे। यही दत्तोलि स्वायम्भुव मन्वन्तरमें अगस्त्य नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्हींकी एक पत्नी हविर्भूसे विश्रवा हुए थे, जिनके पुत्र कुबेर, रावण आदि हुए। ये योगविद्याके आचार्य माने जाते हैं। ऋषि पुलस्त्यने ही देवर्षि नारदको वामनपुराणकी कथा सुनायी है। जब पराशर क्रुद्ध होकर राक्षसोंके नाशके लिये एक महान् यज्ञ कर रहे थे, तब वसिष्ठके परामर्शसे पुलस्त्यका अनुरोध मानकर उन्होंने यज्ञ बन्द कर दिया, जिससे महर्षि पुलस्त्य उनपर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्हें अपनी कृपा और आशीर्वादसे समस्त शास्त्रोंका पारदर्शी बना दिया। भगवान्के अवतार ऋषभदेवने बहुत दिनोंतक राज्यपालन करनेके पश्चात् अपने ज्येष्ठ पुत्र भरतको राज्य देकर जब वनगमन किया तब उन्होंने महर्षि पुलस्त्यके आश्रममें रहकर ही तपस्या की थी। ब्रह्माके सर्वतत्त्वज्ञ पुत्र ऋभुसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेवाले निदाघ इन्हीं महर्षि पुलस्त्यके पुत्र थे। ये अब भी जगत्की रक्षा-दीक्षामें तत्पर हैं और संसारमें यत्किंचित् सुख-शान्तिका दर्शन हो रहा है, उसमें इनका बहुत बड़ा हाथ है। महाभारत और पुराणोंमें इनकी पर्याप्त चर्चा है।

महर्षि च्यवन

लोकप्रजापति भगवान् ब्रह्माजीने वरुणके यज्ञमें एक पुत्र उत्पन्न किया, जिनका नाम भृगु था। भृगु महर्षिने पुलोमा नामवाली स्त्रीके साथ विधिवत् विवाह किया। पुलोमा जब गर्भवती थी तभी उन्हें एक प्रलोमा नामवाला राक्षस सूकरका रूप बनाकर उठा ले गया। पुलोमा रोती जाती थी। तेज दौड़नेके कारण ऋषिपत्नीका

गर्भ च्यवित हो गया, जिससे एक महातेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। उस पुत्रको देखते ही वह राक्षस उसके तेजसे भस्म हो गया। वे ही महर्षि च्यवन हुए।

भृगुके पुत्र च्यवन बड़े ही तपस्वी, तेजस्वी और ब्रह्मनिरत हुए। वे सदा तपस्यामें ही लगे रहते थे। तपस्या करते-करते उनके ऊपर दीमक जम गयी थी और दीमकके एक टीलेके नीचे वे दब गये थे, केवल उनकी दो आँखें दिखायी देती थीं। एक दिन महाराज शर्याति अपनी सेनाके सहित वहाँ पहुँचे। सैनिकोंने जंगलमें डेरे डाल दिये, हाथी-घोड़े यथास्थान बाँधे गये और सैनिक इधर-उधर घूमने-फिरने लगे। महाराज शर्यातिकी पुत्री सुकन्या अपनी सखियोंसहित जंगलमें घूमने लगी। घूमते-घूमते उसने एक टीला देखा, वहाँपर वह वैसे ही विनोदके लिये बैठ गयी। उसे दो जुगनूकी तरह चमकती हुई आँखें उस दीमकके टीलेके नीचे दिखायी दीं। बाल्यकालकी चंचलताके कारण उसने उन दोनों आँखोंमें काँटा चुभो दिया। उनमेंसे रक्तकी धारा बह निकली। कन्या डर गयी और भागकर अपने डेरेमें आ गयी, उसने यह बात किसीसे कही नहीं।

इधर राजाकी सेनामें एक अपूर्व ही दृश्य दिखायी देने लगा, राजाकी समस्त सेनाका मल-मूत्र बन्द हो गया। राजा, मन्त्री, सेवक, सैनिक, घोड़े, हाथी, रानी, राजपुत्री सभी दुखी हो गये। राजाको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सबसे पूछा—'यहाँपर भगवान् भार्गव-मुनि च्यवनका आश्रम है, तुम लोगोंने उनका कोई अनिष्ट तो नहीं किया है, किसीने उनके आश्रमपर जाकर अपवित्रता या अशिष्टता तो नहीं की है?' सभीने कहा—'महाराज! हम तो उधर गये भी नहीं।' तब डरते-डरते सुकन्याने कहा—'अज्ञानवश एक अपराध मुझसे हो गया है—दीमकके ढेरमें दो जुगनू-से चमक रहे थे; उनमें मैंने काँटा चुभो दिया, जिससे उनमेंसे रक्तकी धारा बह निकली।'

महाराज सब समझ गये, वे पुरोहित और मन्त्रीके साथ बड़ी दीनतासे महर्षि च्यवनके आश्रमपर पहुँचे। उनकी विधिवत् पूजा की और अज्ञानमें अपनी कन्याके किये हुए अपराधकी क्षमा चाही। महाराजने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! मेरी यह कन्या सरल है, सीधी है। इससे अनजानेमें यह अपराध बन गया, अब मुझे जो भी आज्ञा हो मैं उसका सहर्ष पालन करूँ।'

च्यवनमुनि बोले—'राजन्! यह अपराध अज्ञानमें ही हुआ सही; किंतु मैं वृद्ध हूँ, आँखें भी मेरी फूट गयीं; अतः तुम इस कन्याको ही मेरी सेवाके लिये छोड़ जाओ।' महाराजने इसे सहर्ष स्वीकार किया। सुकन्याने भी बड़ी प्रसन्नतासे इसको स्वीकार किया। सुकन्याका विवाह विधिवत् च्यवनमुनिके साथ कर दिया गया। सुकन्या अपने पतिकी सेवामें रह गयी। राजा उसे समझाकर अपनी राजधानीको चले गये। च्यवन मुनिका स्वभाव कुछ कड़ा था, किंतु साध्वी सुकन्या दिन-रात सेवा करके उन्हें सदा सन्तुष्ट रखती थी।

एक बार देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमार भगवान् च्यवनके आश्रमपर आये। च्यवनमुनिने उनका विधिवत् सत्कार किया। ऋषिके आतिथ्यको स्वीकार करके अश्विनीकुमारोंने कहा—'ब्रह्मन्! हम आपका क्या उपकार करें?'

च्यवनमुनिने कहा—'देवताओ! तुम सब कुछ कर सकते हो। तुम मेरी इस वृद्धावस्थाको मेट दो और मुझे युवावस्था प्रदान करो, इसके बदले मैं तुम्हें यज्ञमें भाग दिलाऊँगा। अभीतक तुम्हें यज्ञोंमें भाग नहीं मिलता है।'

अश्विनीकुमारोंने ऋषिकी आज्ञा मानकर एक सरोवरका निर्माण किया और बोले—'आप इसमें स्नान कीजिये।'

ऋषि उसमेंसे स्नान करके ज्यों ही निकले, तब सुकन्याने क्या देखा कि बिल्कुल एक ही आकार-

प्रकारके तीन देवतुल्य युवा पुरुष उसमेंसे निकले। असलमें अश्विनीकुमारोंने सुकन्याके पातिव्रत्यकी परीक्षा लेनेके लिये ही अपने भी वैसे ही रूप बना लिये थे। तब सुकन्याने अश्विनीकुमारोंकी बहुत प्रार्थना की, कि मेरे पतिको अलग कर दीजिये। सुकन्याकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर अश्विनीकुमार अन्तर्धान हो गये और सुकन्या अपने परम सुन्दर रूपवान् पतिके साथ सुखपूर्वक रहने लगी।

च्यवनऋषिकी वृद्धावस्था जाती रही, उन्हें आँखें फिरसे मिल गयीं, उनका तपस्यासे क्षीण जर्जर शरीर एकदम बदल गया। वे परम सुन्दर रूपवान् युवा बन गये। एक दिन राजा अपनी कन्याको देखने आये। पहले तो वे ऋषिको न पहचानकर कन्यापर क्रुद्ध हुए। जब उन्होंने सब वृत्तान्त सुना तो कन्यापर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने ऋषिकी चरणवन्दना की कि आपके तपके प्रभावसे हमारा वंश पावन हुआ। उन च्यवन ऋषिके पुत्र प्रमति हुए और प्रमतिके रुरु। रुरुके शुनक हुए। ये सब भृगुवंशमें उत्पन्न होनेसे भार्गव कहलाये।

सौभरि

दयाकी मूर्ति भगवान् सौभरि ऋग्वेदके ऋषि हैं। इनके चरित्र वेदों, पुराणों और उपनिषदोंमें सर्वत्र मिलते हैं। 'सौभरिसंहिता' नामसे एक संहिता भी है। ये वृन्दावनके निकट कालिन्दीके तटपर रमणक नामक द्वीपमें रहते थे, जो आजकल सुनरख नामसे प्रसिद्ध हैं। ये यमुनाजीके जलमें डूबकर हजारों वर्षोंतक तपस्या करते रहे। एक बार मल्लाहोंने मछली पकड़नेके लिये जाल डाला। मछलियोंके साथ जालमें ये स्वयं भी फँसकर चले आये। मल्लाहोंने समझा कोई बड़ा भारी मत्स्य फँस गया है। उन्होंने ऊपर खींचा तो मालूम हुआ ये तो महर्षि सौभरि हैं। मल्लाह बड़े घबड़ाये। ऋषिने कहा—'भाई! हम अब तुम्हारे जालमें फँस गये हैं, तुम हमें बेच दो।' मल्लाहोंकी हिम्मत कहाँ थी, ऋषिके आग्रह करनेपर वहाँके राजा आ गये। ऋषिको भला कौन मोल ले सकता है, उनका मूल्य कौन-सी वस्तुसे आँका जा सकता है? अन्तमें ऋषिके सुझानेपर यह निश्चय हुआ कि गौके रोम-रोममें अनन्त देवताओंका निवास है, राजाने गौको बदलेमें देकर ऋषिको मुक्त कराया। मल्लाहोंको उन्होंने और भी बहुत-सा धन दिया।

एक बार ऋषिने देखा कि गरुड़देव उनके स्थानके समीप मछलियोंको खा रहे हैं। एक बड़ा मत्स्य था, उसे भी वे खाना चाहते थे। ऋषिने मना किया, किंतु गरुड़ इतने भूखे थे कि उन्होंने ऋषिकी बातपर ध्यान ही नहीं दिया। मत्स्यके बालक तड़पने लगे। महर्षिको बड़ी करुणा आयी और उन्होंने गरुड़को लक्ष्य करके शाप दिया कि 'आजसे यदि गरुड़ यहाँ आकर किसी भी जीवको खायेगा तो उसकी मृत्यु उसी क्षण हो जायगी, यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।' उस दिनसे उनके समीपका समस्त स्थान हिंसाशून्य बन गया। वहाँ कोई भी जीव हिंसा नहीं कर सकता।

एक बारकी बात है कि रमणक द्वीपके रहनेवाले सर्पोंने सलाह की कि गरुड़ हमारे समस्त परिवारका बड़ी निर्दयतासे संहार करते हैं, अतः उनके पास पारी-पारीसे सर्प जाया करें और उन्हें बलि दिया करें। ऐसा करनेसे शीघ्र ही कुलका नाश न होगा। यह बात समस्त सर्पोंने स्वीकार कर ली और वे बारी-बारी गरुड़के पास जाने लगे। एक दिन कालियनागकी बारी आयी। वह गया और गरुड़की बलिको स्वयं ही खा गया। इसपर गरुड़ बड़े क्रोधित हुए, वे नागपर झपटे। कालिय अपनी जान लेकर भागा और भगवान् सौभरिकी शरणमें गया। ऋषिने उसे आश्रय देते हुए कहा—'यहाँ तुम्हें किसी भी बातका भय नहीं, यहाँ गरुड़ तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा।' उस दिनसे कालिय भगवान् सौभरिके ही आश्रमके समीप रहने लगा। इसीलिये उस स्थानका नाम अहिवास और उसके समीप रहनेवाले भगवान् सौभरि ऋषिके वंशज अहिवासी कहलाये। ऋषिके विवाहकी भी एक बड़ी मनोरंजक कहानी है।

ऋषि सदा जलके भीतर समाधि लगाकर तपस्या करते थे। एक बार जलके भीतर-ही-भीतर उनकी समाधि भंग हुई। वहाँ उन्होंने देखा एक मत्स्य अपनी स्त्रीके सहित बड़े सुखसे विहार कर रहा है। आँखोंके जरा-से कुसंगने अपना असर डाला, उसी समय ऋषिके मनमें संकल्प उठा कि 'देखो, ये जलचर जन्तु होकर कैसा सुखभोग कर रहे हैं, हम तो मनुष्यका शरीर पाकर भी इस सुखसे वंचित हैं।' यह विचार आते ही ऋषि समाधि, प्राणायाम सब भूल गये। जलसे बाहर निकले। उन दिनों महाराजा मान्धाता अयोध्यामें राज्य करते थे, ऋषि सीधे उन्हींके पास पहुँचे। महाराजने ऋषिका बड़ा सत्कार किया, विधिवत् पूजा की, गौदान करनेके अनन्तर उनसे पधारनेका कारण पूछा। महर्षिने कहा—'राजन्! मैं गृहस्थसुखका उपभोग करना चाहता हूँ; तुम्हारे पचास कन्याएँ हैं, इनमेंसे एक मुझे दे दो।'

महाराज सुनकर सन्न रह गये। भला, हजारों वर्षके इन बूढ़े ऋषिको अब इस ढलती उम्रमें यह क्या सूझी? इन्हें क्या कैसे दूँ? किंतु मना करनेकी भी हिम्मत नहीं हुई। ऋषिकी तनिक-सी भ्रकुटी टेढ़ी होते ही राज-पाटसे हाथ धोना पड़ेगा। यह सब सोच-समझकर उन्होंने एक चाल चली। बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर उन्होंने कहा—'भगवन्! मेरे अन्तःपुरमें आपके लिये कोई रुकावट तो है ही नहीं, आप भीतर पधारें। मेरे पचास कन्याएँ हैं, उनमेंसे मेरी जो कन्या आपको पसन्द करे, उसे ही आप प्रसन्नतापूर्वक ले जायँ।' महाराजने सोचा मेरी युवती कन्याएँ इन-जैसे अति बूढ़े ऋषिको क्यों पसन्द करने लगेंगी। जब वे पसन्द न करेंगी तो ये खुद ही लौट जायँगे। इस प्रकार साँप भी मर जायगा और लाठी भी न टूटेगी। मना भी न करनी पड़ेगी और ऋषि भी नाराज न होंगे।

महर्षि तो थे सर्वज्ञ। उनसे भला कोई क्या छिपा सकता है, वे महाराजके भावको ताड़ गये। तपस्याके बलसे वे नयी सृष्टि रच सकते थे, उन्होंने झटसे अपना रूप परम सुन्दर युवावस्थासम्पन्न बना लिया। रनवासमें जाते ही पचासों-की-पचासों कन्याएँ उनपर मुग्ध हो गयीं। राजाको अब क्या आपत्ति थी। पचासों कन्याएँ ऋषिके अर्पण कर दीं। उन सबको लेकर महर्षि अपने आश्रमपर आये। विश्वकर्माको आज्ञा दी, बहुत जल्दी पचास महल बने। फिर क्या था, बात-की-बातमें समस्त स्वर्गीय सुखोंसे युक्त पचास महल बन गये। उनमें सब प्रकारकी सुखोपभोगकी सामग्रियाँ थीं। योगबलसे पचास रूप बनाकर ऋषि उनके साथ गृहस्थसुखका उपभोग करने लगे। प्रत्येकके दस-दस पुत्र हुए। उन पुत्रोंके भी पुत्र हो गये। बड़ा परिवार होनेसे भाँति-भाँतिके झंझट, भाँति-भाँतिकी नित्य नयी उपाधियाँ होने लगीं। अब तो ऋषिको होश हुआ। अरे! यह मैंने क्या किया, तनिक देर विषयी मत्स्यका संसर्ग होनेसे मैं भी विषयी बन गया। विषयीजनोंके क्षणभरके संगका ऐसा दुष्परिणाम!! यह सोचते ही वे चिल्लाकर कहने लगे—

अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य।
अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात् प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत्॥

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद् व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः॥

निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

'अरे! यह मेरा पतन तो देखो, मैं व्रतमें तत्पर सच्चरित्र तपस्वी था। जलके भीतर मत्स्यके प्रसंगको

देखकर मैं इतने दिनके प्राप्त किये हुए अपने ब्रह्मतेजको विषयभोगोंके पीछे खो बैठा। मुमुक्षु पुरुषको मैथुनमें लगे हुए प्राणियोंका साथ कभी न करना चाहिये। यदि सब प्रकारसे न छोड़ सके तो बाहरकी इन्द्रियोंसे ही छोड़ दे। बिलकुल एकान्तमें रहकर अनन्त प्रभुमें चित्त लगाकर उनके प्यारे भक्तोंका सत्संग करना चाहिये। निःसंग होना ही यतियोंके लिये मुक्तिका मार्ग है। संगसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। दुःसंगसे योगमें आरूढ़ हुए योगीतक गिर जाते हैं, फिर अल्पसिद्धिवाले जीवोंकी तो बात ही क्या है?'

ऐसा सोचकर वे वानप्रस्थधर्मका पालन करते हुए ब्रह्ममें लीन हो गये। सौभरिमुनिके जीवनमें भूतदया विशेषरूपसे देखी जाती है, वे प्राणियोंको दुखी नहीं देख सकते थे। प्राणिमात्रके प्रति दयाका भाव रखना यही तो सच्ची साधुता है।

महर्षि वसिष्ठजी

महर्षि वसिष्ठकी उत्पत्तिका वर्णन पुराणोंमें विभिन्नरूपसे आता है। ये कहीं ब्रह्माके मानसपुत्र, कहीं आग्नेय पुत्र और कहीं मित्रावरुणके पुत्र कहे गये हैं। कल्पभेदसे ये सभी बातें ठीक हैं। ब्रह्मशक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप तपोनिधि महर्षि वसिष्ठके चरित्रसे हमारे धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण भरे पड़े हैं। इनकी सहधर्मिणी अरुन्धतीजी हैं, जो सप्तर्षिमण्डलके पास ही अपने पतिदेवकी सेवामें लगी रहती हैं। जब इनके पिता ब्रह्माजीने इन्हें सृष्टि करनेकी और भूमण्डलमें आकर सूर्यवंशी राजाओंका पौरोहित्य करनेकी आज्ञा की, तब इन्होंने उस कार्यसे बड़ी हिचकिचाहट प्रकट की। फिर ब्रह्माजीने समझाया कि इसी वंशमें आगे चलकर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका पूर्ण अवतार होनेवाला है, अतः इस निन्दित कर्मके द्वारा भी तुम्हें बड़ी ऊँची गति प्राप्त होगी। तब कहीं उन्होंने आना स्वीकार किया। यहाँ आकर इन्होंने सर्वदा अपनेको सर्वभूतहितमें लगाये रखा। जब कभी अनावृष्टि हुई, दुर्भिक्ष पड़ा, तब उन्होंने अपने तपोबलसे वर्षा करायी और जीवोंकी अकालमृत्युसे रक्षा की। इक्ष्वाकु, निमि आदिसे अनेकों यज्ञ कराये और विभिन्न महापुरुषोंके यज्ञोंमें सम्मिलित होकर उनके अनुष्ठानको पूर्ण किया। जब अपने पूर्वजोंके असफल हो जानेके कारण गंगाको लानेसे भगीरथको निराशा हुई तब इन्होंने उन्हें प्रोत्साहन देकर मन्त्र बतलाया और इन्हींके उपदेशके बलपर भगीरथने महान् प्रयत्न करके गंगा-जैसी लोककल्याणकारिणी महानदीको हमलोगोंके लिये सुलभ कर दिया। जब दिलीप संतानहीन होनेके कारण अत्यन्त दुखी हो रहे थे तब उन्हें अपनी गौ नन्दिनीकी सेवाविधि बताकर रघु-जैसे पुत्र-रत्नका दान किया। दशरथकी निराशामें आशाका संचार करनेवाले यही महर्षि वसिष्ठ थे। इन्हींकी सम्मतिसे पुत्रेष्टि-यज्ञ हुआ और फलस्वरूप भगवान् श्रीरामने अवतार ग्रहण किया। भगवान् श्रीरामको शिष्यरूपमें पाकर वसिष्ठने अपना पुरोहितजीवन सफल किया और न केवल वेद-वेदांग ही बल्कि योगवाशिष्ठ-जैसे अपूर्व ज्ञानमय ग्रन्थका उपदेश करके अपने ज्ञानको सफल किया। भगवान् श्रीरामके वनगमनसे लौटनेपर उन्हें राज्यकार्यमें सर्वदा परामर्श देते रहे और उनसे अनेकों यज्ञ-यागादि करवाये।

महर्षि वसिष्ठसे काम-क्रोधादि शत्रु पराजित होकर उनकी चरणसेवा किया करते थे, इसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। एक बार विश्वामित्र उनके अतिथि हुए, इन्होंने बड़े प्रेमसे अपनी कामधेनुकी सहायतासे अनेकों प्रकारकी भोजन-सामग्री आदि उपस्थित कर दी और विश्वामित्रने अपनी सेनाके साथ पूर्णतः तृप्तिलाभ किया। उस गौकी ऐसी अलौकिक क्षमता देखकर विश्वामित्रको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उसे लेनेकी इच्छा प्रकट की। वह गौ वसिष्ठके अग्निहोत्रके लिये आवश्यक थी, अतः जब उन्होंने देनेमें असमर्थता प्रकट की तब विश्वामित्रने बलात् छीन ले जानेकी चेष्टा की। उस समय वसिष्ठने उस गौकी सहायतासे अपार सेनाकी सृष्टि कर दी और विश्वामित्रकी सेनाको मार भगाया। क्षत्रियबलके सामने इस प्रकार ब्रह्मबलका उत्कर्ष देखकर

उन्हें हार माननी पड़ी; परंतु इससे उनकी द्वेषभावना कम न हुई, बल्कि उन्होंने वसिष्ठको हरानेके लिये महादेवजीकी शरण ग्रहण की। शंकरजीकी कृपासे दिव्यास्त्र प्राप्त करके उन्होंने फिर वसिष्ठपर आक्रमण किया, परंतु वसिष्ठके ब्रह्मदण्डके सामने उनकी एक न चली और उनके मुँहसे बरबस निकल पड़ा—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥

अन्ततः पराजय स्वीकार करके उन्हें ब्राह्मणत्व-लाभके लिये तपस्या करने जाना पड़ा।

महर्षि वसिष्ठ क्षमाकी तो मूर्ति ही थे। जब विश्वामित्रने इनके सौ पुत्रोंका संहार कर दिया, उस समय यद्यपि इन्होंने बड़ा शोक प्रकट किया, परंतु सामर्थ्य होनेपर भी विश्वामित्रके किसी प्रकारके अनिष्टका चिन्तनतक नहीं किया; बल्कि अन्तःकरणके क्षणिक शोकाकुल होनेपर भी ये अपनी निर्लेपता और असंगताको नहीं भूले।

एक बार बात-ही-बातमें विश्वामित्रसे इनका विवाद छिड़ गया कि तपस्या बड़ी है या सत्संग? वसिष्ठजीका कहना था कि सत्संग बड़ा है और विश्वामित्रजीका कहना था कि तपस्या बड़ी है। अन्तमें दोनों ही महर्षि अपने विवादका निर्णय करानेके लिये शेषभगवान्‌के पास उपस्थित हुए। सब बातें सुनकर शेषभगवान्‌ने कहा कि भाई! अभी तो मेरे सिरपर पृथ्वीका भार है, दोनोंमेंसे कोई एक थोड़ी देरके लिये इसे ले ले तो मैं निर्णय कर सकता हूँ। विश्वामित्र अपनी तपस्याके घमण्डमें फूले हुए थे, उन्होंने दस हजार वर्षकी तपस्याके फलका संकल्प किया और पृथ्वीको अपने सिरपर धारण करनेकी चेष्टा की। पृथ्वी काँपने लगी, सारे संसारमें तहलका मच गया। तब वसिष्ठजीने अपने सत्संगके आधे क्षणके फलका संकल्प करके पृथ्वीको धारण कर लिया और बहुत देरतक धारण किये रहे। अन्तमें जब शेषभगवान् फिर पृथ्वीको लेने लगे तब विश्वामित्रने कहा कि अभीतक आपने निर्णय तो सुनाया ही नहीं। शेषभगवान् हँस पड़े। उन्होंने कहा, निर्णय तो अपने-आप हो गया, आधे क्षणके सत्संगकी बराबरी हजारों वर्षकी तपस्या नहीं कर सकती। फिर क्या था, दोनों महर्षि तो थे ही, यह तो सत्संगकी महिमा प्रकट करनेका एक अभिनयमात्र था। दोनों ही बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने-अपने आश्रमपर लौट आये।

महर्षि वसिष्ठ योगवासिष्ठके उपदेशकके रूपमें ज्ञानकी साक्षात् मूर्ति हैं और अनेक यज्ञ-यागों तथा वसिष्ठसंहिताके प्रणयनद्वारा उन्होंने कर्मके महत्त्व और आचरणका आदर्श स्थापित किया है। उनका जीवन तो भगवान् श्रीरामके प्रेमसे सराबोर है ही। हमारे इतिहास-पुराणोंमें इनके चरित्रका बहुत बड़ा विस्तार है। उन सब बातोंका अध्ययन तो उन्हींमें हो सकता है। यहाँ तो केवल उनके जीवनकी दो-चार घटनाएँ ही उद्‌धृत की गयी हैं। महर्षि वसिष्ठ आज भी सप्तर्षियोंमें रहकर सारे जगत्‌के कल्याणमें लगे हुए हैं।

श्रीकर्दमजी

'छायायाः कर्दमो जज्ञे' अर्थात् ब्रह्माजीकी छायासे श्रीकर्दमजी उत्पन्न हुए। जब ब्रह्माजीने प्रजापति कर्दमको सृष्टि-विस्तारकी आज्ञा दी तो उन्होंने सर्वप्रथम स्वरूपानुरूप धर्मपत्नीकी प्राप्तिके लिये सरस्वती नदीके तटपर बिन्दुसरोवर तीर्थमें दस हजार वर्षोंतक तपस्याके द्वारा शरणागत-वरदायक श्रीहरिकी आराधना की। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया। प्रभुकी परम मनोहर मूर्तिका दर्शनकर कर्दमजीको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने सानन्द साष्टांग दण्डवत् प्रणामकर प्रेम-प्रवण चित्तसे हाथ जोड़कर अत्यन्त सुमधुर वाणीसे भगवान्‌की स्तुति की। भगवान्‌ने कहा—जिसके लिये तुमने आत्मसंयमादिके द्वारा मेरी आराधना की है, तुम्हारे हृदयके उस भावको जानकर मैंने पहलेसे ही उसकी व्यवस्था कर दी है। परम यशस्वी सार्वभौम सम्राट्

महामानव मनु परसों अपनी धर्मशीला भार्या शतरूपाके साथ अपनी रूप-यौवनशीला और सद्गुणसम्पन्ना कमललोचना कन्याको लेकर आयेंगे। प्रजापते! वह सर्वथा आपके स्वरूपानुरूप है। मनुजी वह कन्या आपको अर्पण करेंगे। उससे सृष्टिका विस्तार करनेवाली नौ कन्याएँ होंगी तथा सांख्यशास्त्रका प्रचार करनेके लिये मैं भी अपने अंश-कलासे आपके वीर्यका आश्रय लेकर आपकी पत्नी देवहूतिके गर्भसे अवतीर्ण होऊँगा। यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

इधर मनुजी भी महारानी शतरूपाके साथ सुवर्णजटित रथपर सवार होकर तथा परम साध्वी, मुनि-वृत्तिशीला कन्या देवहूतिको भी बिठाकर भगवान्के बताये संकेतानुसार निश्चित समयपर शान्तिपरायण महर्षि कर्दमके आश्रमपर पहुँचे। अग्निहोत्रसे निवृत्त परम तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ कर्दमको मनुजीने प्रणाम किया। श्रीकर्दमजीने आशीर्वाद देते हुए यथोचित आतिथ्य-सत्कार किया और आगमनका कारण पूछा। मनुजीने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक निवेदन किया—यह मेरी कन्या है—जो प्रियव्रत और उत्तानपादकी बहन है, स्वभावसे ही राजसुख भोगोंसे विरक्त है; अवस्था, शील और गुण आदिमें अपने योग्य पति पानेकी इच्छा रखती है। जबसे इसने नारदजीके मुखसे आपके शील, विद्या, रूप और गुणोंका वर्णन सुना है, तभीसे आपको अपना पति बनानेका निश्चय कर चुकी है। द्विजवर! मैं बड़ी श्रद्धासे आपको यह कन्या समर्पित करता हूँ, आप इसे स्वीकार कीजिये।

श्रीकर्दमजीने स्वीकृति तो दे दी परंतु शर्तपर। वह यह कि जबतक इसके संतान नहीं हो जायगी, तबतक मैं गृहस्थधर्मानुसार इसके साथ रहूँगा, इसके पश्चात् भगवान्के बताये हुए परमधर्म भगवदाराधनको ही मैं अधिक महत्त्व दूँगा। महाराज मनुजीने ब्राह्म विधिसे देवहूतिका विवाह कर्दमजीसे कर दिया और दहेजमें भूरि-भूरि बहुमूल्य वस्त्राभूषण एवं अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्रदान कीं तथा मुनिकी आज्ञा लेकर वहाँसे अपने स्थानको चले आये।

मनुपुत्री देवहूतिने काम-वासना, दम्भ, द्वेष, लोभ, मदादिका त्यागकर बड़ी सावधानी और लगनके साथ सेवामें तत्पर रहकर विश्वास, पवित्रता, गौरव, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुर भाषणादि गुणोंसे अपने परम तेजस्वी पतिदेवको सन्तुष्ट कर लिया। बहुत काल व्यतीत होनेपर सेवापरायणा देवहूतिके मनमें संतानकी अभिलाषा जाग्रत् होनेपर परम तपोधन श्रीकर्दमजीने अपने तपोबलसे स्वयं दिव्य स्वरूप धारणकर तथा देवहूतिको भी दिव्यरूप प्रदानकर, सहस्रों दास-दासियोंसे सेवित एवं समावृत होकर योग-प्रभाव-विनिर्मित दिव्य विमानपर विराजमान होकर देवहूतिके साथ बहुत वर्षोंतक विहार किया। तत्पश्चात् देवहूतिको संतानप्राप्तिके लिये समुत्सुक देखकर श्रीकर्दमजीने अपने स्वरूपके नौ विभाग किये और नवों स्वरूपोंसे उनके गर्भमें अपना तेज स्थापित किया। इससे देवहूतिके नौ कन्याएँ पैदा हुईं। श्रीकर्दमजी अपनी पूर्वप्रतिज्ञाके अनुसार संन्यास ग्रहण करनेको समुद्यत हुए। पतिदेवके हार्दिक अभिप्रायको जानकर देवहूतिने बड़ी विनम्रतापूर्वक कन्याओंको योग्य वरोंके हाथोंमें सौंपने तथा वन चले जानेपर अपने आधारके लिये एक पुत्रकी प्रार्थना की। तब कृपालु मुनि कर्दमको भगवान् विष्णुका वह कथन याद हो आया, जिसमें कि उन्होंने स्वयंका मुनि-पुत्र होनेका संकेत किया था। श्रीकर्दमजीने देवहूतिको आश्वासन दिया—प्रिये! अधीर न हो, तुम्हारे गर्भमें अविनाशी भगवान् विष्णु शीघ्र ही पधारेंगे। अब तुम संयम, नियम, दान और तपादिके द्वारा श्रद्धापूर्वक भगवान्का आराधन करो; पतिवचन-विश्वासिनी देवहूति प्राणपणसे भगवदाराधनमें लग गयीं। इधर कर्दमजीने श्रीब्रह्माजीके आदेशानुसार अपनी कला नामकी कन्या मरीचिको, अनसूया अत्रिको, श्रद्धा अंगिराको, हविर्भू पुलस्त्यको, गति पुलहको, क्रिया क्रतुको, ख्याति भृगुको, अरुन्धती वसिष्ठको और शान्ति अथर्वाको समर्पित की। ये ऋषि लोग श्रीकर्दमजीकी

आज्ञा लेकर अति आनन्दपूर्वक अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ अपने-अपने आश्रमको चले गये।

इधर परम मंगल मुहूर्त आनेपर साक्षात् देवाधिदेव भगवान् विष्णु श्रीकर्दमजीके वीर्यका आश्रय लेकर देवहूतिके गर्भसे श्रीकपिलरूपमें प्रकट हुए। देवताओंने दुन्दुभियाँ बजायीं, पुष्पवृष्टि की। ब्रह्मादिकने ऋषि-दम्पतीके सौभाग्यकी सराहना करते हुए श्रीकपिलभगवान्‌की स्तुति की। श्रीकर्दमजीने पुनः पूर्वप्रतिज्ञाका स्मरणकर श्रीकपिलभगवान्‌की आज्ञा लेकर उनकी परिक्रमा की और प्रसन्नतापूर्वक वनको चले गये। वहाँ परम भक्तिभावके द्वारा सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ श्रीवासुदेवमें चित्त लगाकर उन्होंने परम पद प्राप्त कर लिया। भगवान् श्रीकपिलदेव भी माता देवहूतिको तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर गंगा-सागर-संगमपर जाकर भजनमें प्रवृत्त हो गये। देवहूतिजी भी भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंका अनुचिन्तन करती हुई भगवद्धामको प्राप्त हुईं।

श्रीअत्रिजी

ये भी महर्षि मरीचिकी भाँति ब्रह्माजीके मानसपुत्र और प्रजापति हैं। ये दक्षिण दिशामें रहते हैं, इनकी पत्नी अनसूया भगवदवतार कपिलकी भगिनी है तथा कर्दमप्रजापतिकी पत्नी देवहूतिके गर्भसे पैदा हुई हैं। जैसे महर्षि अत्रि अपने नामके अनुसार त्रिगुणातीत थे, वैसे ही अनसूया भी असूयारहित थीं। इन दम्पतीको जब ब्रह्माने आज्ञा की कि सृष्टि करो, तब इन्होंने सृष्टि करनेके पहले तपस्या करनेका विचार किया और बड़ी घोर तपस्या की। इनके तपका लक्ष्य संतानोत्पादन नहीं था बल्कि इन्हीं आँखोंसे भगवान्‌का दर्शन प्राप्त करना था। इनकी श्रद्धापूर्वक दीर्घकालकी निरन्तर साधना और प्रेमसे आकृष्ट होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीनों ही देवता प्रत्यक्ष उपस्थित हुए। उस समय ये दोनों उनके चिन्तनमें इस प्रकार तल्लीन थे कि उनके आनेका पतातक न चला। जब उन्होंने ही इन्हें जगाया तब ये उनके चरणोंपर गिर पड़े, किसी प्रकार सँभलकर उठे और गद्‌गद वाणीसे उनकी स्तुति करने लगे। इनके प्रेम, सचाई और निष्ठाको देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने वरदान माँगनेको कहा। इन दम्पतीके मनमें अब संसारी सुखकी इच्छा तो थी ही नहीं, परंतु ब्रह्माकी आज्ञा थी सृष्टि करनेकी और वे इस समय सामने ही उपस्थित थे; तब इन्होंने और कोई दूसरा वरदान न माँगकर उन्हीं तीनोंको पुत्ररूपमें माँगा और भक्तिपरवश भगवान्‌ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके 'एवमस्तु' कह दिया। समयपर तीनोंहीने इनके पुत्ररूपसे अवतार ग्रहण किया। विष्णुके अंशसे दत्तात्रेय, ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा और शंकरके अंशसे दुर्वासाका जन्म हुआ। जिनकी चरणधूलिके लिये बड़े-बड़े योगी और ज्ञानी तरसते रहते हैं, वे ही भगवान् अत्रिके आश्रममें बालक बनकर खेलने लगे और दोनों दम्पती उनके दर्शन और वात्सल्यस्नेहके द्वारा अपना जीवन सफल करने लगे। अनसूयाको तो अब कुछ दूसरी बात सूझती ही न थी। अपने तीनों बालकोंको खिलाने-पिलानेमें ही लगी रहतीं।

इन्हींके पातिव्रत्य, सतीत्वसे प्रसन्न होकर वनगमनके समय स्वयं भगवान् श्रीराम सीता और लक्ष्मणके साथ इनके आश्रमपर पधारे और इन्हें जगज्जननी माँ सीताको उपदेश करनेका गौरव प्रदान किया।

कहीं-कहीं ऐसी कथा भी आती है कि महर्षि अत्रि ब्रह्माके नेत्रसे प्रकट हुए थे और अनसूया दक्षप्रजापतिकी कन्या थीं। यह बात कल्पभेदसे बन सकती है। अनेकों बार बड़ी-बड़ी आपत्तियोंसे इन्होंने जगत्‌की रक्षा की है। पुराणोंमें ऐसी कथा आती है कि एक बार राहुने अपनी पुरानी शत्रुताके कारण सूर्यपर आक्रमण किया और सूर्य अपने स्थानसे च्युत हो गये, गिर पड़े। उस समय महर्षि अत्रिके तपोबल और शुभ संकल्पसे उनकी रक्षा हुई तथा जगत् जीवन एवं प्रकाशसे शून्य होते-होते बच गया। तबसे महर्षियोंने अत्रिका एक नाम प्रभाकर रख दिया। महर्षि अत्रिकी चर्चा वेदोंमें भी आती है। एक बार जब ये समाधिमग्न थे, दैत्योंने इन्हें उठाकर शतद्वार यन्त्रमें डालकर अग्नि जला दी और इन्हें नष्ट करनेकी चेष्टा की, किंतु

इन्हें इस बातका पतातक न था। उस समय भगवत्प्रेरणासे अश्विनीकुमारोंने वहाँ पहुँचकर इन्हें बचाया। धर्मशास्त्रोंमें अत्रिसंहिता एक प्रधान स्मृति है और हमारे कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेके लिये वह एक अमूल्य ग्रन्थरत्न है। इनके विस्तृत और पवित्र जीवनकी चर्चा प्रायः समस्त आर्ष ग्रन्थोंमें आयी है।

श्रीऋचीकजी

श्रीऋचीकजीका वर्णन छप्पय ५ में परशुरामावतारके प्रसंगमें आया है।

श्रीगर्गजी

श्रीगर्गाचार्यजी यदुवंशियोंके पुरोहित थे और थे बड़े तपस्वी **'गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपाः॥'** श्रीवसुदेवजीने इन्हें अपने पुत्रोंका नामकरण-संस्कार करनेके लिये गोकुल भेजा था। श्रीगर्गाचार्यजीका दर्शनकर श्रीनन्दबाबाके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। उनके चरणोंमें साष्टांग दण्डवत् प्रणामोपरान्त श्रीनन्दजीने विधिपूर्वक आचार्यचरणका पूजन किया और उनके शुभागमनसे अपना अहोभाग्य माना। तत्पश्चात् अपने दोनों बालकोंको मुनिके चरणोंमें प्रणाम कराकर इनका नामकरणादि संस्कार करनेकी प्रार्थना की। मुनि तो इसी निमित्त आये ही थे। परंतु कंसको कहीं यह आभास न हो जाय कि वसुदेवजीके पुरोहितने नन्दात्मजका समयोचित संस्कार कराया है, अतः हो न हो, ये वसुदेव-पुत्र ही हैं, वह दुष्ट इनके अनिष्टका उद्यम करने लगेगा, अतः श्रीगर्गजीने एकान्त गोशालामें स्वस्तिवाचनपूर्वक बालकोंका द्विजाति-समुचित संस्कार कर दिया। इसी व्याजसे श्रीगर्गाचार्यजीने श्रीबलराम-कृष्णके ऐश्वर्यका भी वर्णन कर दिया, जिससे कि आगेकी लोकोत्तर लीलाओंमें किसी प्रकारका सन्देह न हो। भगवान्‌के अतिमानुषी चरित्रोंको देखकर श्रीगर्गजीके वचनोंको याद कर लेनेपर सहज ही सन्देहका समाधान हो जाता था।

श्रीगर्गजीका श्रीकृष्ण-लीलामें बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। समस्त नन्दव्रजकुमारिकाएँ श्रीकृष्णको ही पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये श्रीकात्यायनीदेवीका पूजन कर रही थीं। परंतु उनके माता-पिता तो लोक-व्यवहारके अनुसार अपनी कन्याओंको अन्यत्र ही व्याहना चाहते थे। बड़ी कठिन समस्या थी। श्रीगर्गाचार्यजीने इसको बड़ी बुद्धिमानीसे सुलझाया। जिस समय श्रीब्रह्माजी मोहवश गोप-बालक-वत्सोंको हर ले गये थे और स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही अनेक-अनेक बालक और वत्स बनकर विविध विनोद कर रहे थे, उस समय श्रीगर्गाचार्यजीने लीलाके अनुकूल परिस्थिति विचारकर ब्रजमें आकर सबको यह चेतावनी दी कि ग्रहस्थितिके अनुसार अगले बारह वर्षोंतक विवाह-मुहूर्त नहीं मिलनेवाले हैं, अतः इसी वर्ष कुमार-कुमारियोंका विवाह-संस्कार सम्पन्न हो जाना चाहिये। सब लोगोंने श्रीगर्गजीकी बात मानकर उपर्युक्त वरोंके साथ अपनी कन्याओंका विवाह कर दिया, जो कि वस्तु-तस्तु अनेक रूपमें श्रीकृष्ण ही थे। इस प्रकार सभी गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्वकीया ही हुईं। श्रीगर्गाचार्यजीने स्वरचित 'गर्ग-संहिता' में भगवान् श्रीकृष्णकी अति मधुर रसमयी लीलाओंका बड़ी मधुरताके साथ वर्णन किया है।

श्रीगौतमजी

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः केचित् प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥*

* मतवाले हाथीके मदको चूर्ण करनेवाले शूर पुरुष होते हैं। बहुतसे बलवान् सिंहको भी पछाड़नेकी शक्ति रखते हैं, किंतु मैं बलवानोंके सम्मुख हठपूर्वक कहता हूँ कि कामदेवके मदको चूर्ण करनेवाले होते तो हैं, किंतु विरले ही होते हैं अर्थात् इसे वशमें करना बहुत कठिन है।

महर्षि गौतम सप्तर्षियोंमें एक ऋषि हैं। कहीं-कहीं पुराणोंमें ऐसी कथा मिलती है कि महर्षि अन्धतमा जन्मके अन्धे थे, उनपर स्वर्गकी कामधेनु प्रसन्न हो गयी और उस गौने इनका तम हर लिया। ये देखने लगे। तबसे इनका नाम गौतम पड़ गया। ये ब्रह्माजीकी मानसी सृष्टिके हैं। पुराणान्तरोंमें ऐसी कथा आती है कि सर्वप्रथम ब्रह्माजीकी इच्छा एक स्त्री बनानेकी हुई, उन्होंने सब जगहसे सौन्दर्य इकट्ठा करके एक अभूतपूर्व स्त्री बनायी। उसके नखसे शिखतक सर्वत्र सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य भरा था। हल कहते हैं पापको, हलका भाव हल्य और जिसमें पाप न हो उसका नाम अहल्या है; अत: उस निष्पापाका नाम भगवान् ब्रह्माने अहल्या रखा। यह पृथ्वीपर सर्वप्रथम इतनी सुन्दर मानुषी स्त्री हुई कि सब ऋषि, देवता उसकी इच्छा करने लगे। इन्द्रने तो उसके लिये भगवान् ब्रह्मासे याचना भी की, किंतु ब्रह्माजीने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। ऐसी त्रैलोक्यसुन्दरी ललनाको भला कौन नहीं चाहेगा? उन दिनों भगवान् गौतम बड़ी घोर तपस्या कर रहे थे। ब्रह्माजी उनके पास गये और जाकर बोले—'यह अहल्या तुम्हें हम धरोहरके रूपमें दिये जाते हैं, जब हमारी इच्छा होगी ले लेंगे।' ब्रह्माजीकी आज्ञा ऋषिने शिरोधार्य की। अहल्या ऋषिके आश्रमें रहने लगी। वह हर तरहसे ऋषिकी सेवामें तत्पर रहती और ऋषि भी उसका धरोहरकी वस्तुकी भाँति ध्यान रखते, किंतु उनके मनमें कभी किसी प्रकारका बुरा भाव नहीं आया।

हजारों वर्षके बाद ऋषि स्वयं ही अहल्याको लेकर ब्रह्माजीके यहाँ गये और बोले—'ब्रह्मन्! आप अपनी यह धरोहर ले लें।' ब्रह्माजी इनके इस प्रकारके संयम और पवित्र भावको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अहल्याका विवाह इन्हींके साथ कर दिया। ऋषि सुखपूर्वक इनके साथ रहने लगे। इनके एक पुत्र भी हुए, जो महर्षि शतानन्दके नामसे विख्यात हैं और जो महाराज जनकके राजपुरोहित थे। इन्द्रने जब अहल्याके साथ अनुचित बर्ताव किया—न करनेयोग्य काम किया, तब इसमें अहल्याकी भी कुछ सम्मति समझकर गौतमजीने उसे पाषाण होनेका शाप दे दिया। तब ब्रह्माजीने भी शाप दिया कि आजसे केवल अहल्यामें ही सम्पूर्ण सौन्दर्य न रहकर पृथ्वीभरकी स्त्रीमात्रमें बँट जायगा। उन्होंने इन्द्रको शाप दिया कि तुम्हारा पद स्थायी न रहेगा, इन्द्र सदा बदलते रहेंगे। इस प्रकार ऋषि गौतम अपनी पत्नीको त्यागकर हिमवान् पर्वतपर तपस्या करने चले गये। जब श्रीरामचन्द्रजीकी चरणधूलिसे अहल्या पुनः पवित्र हो गयी, तब गौतमजीने उसे स्वीकार कर लिया। महर्षि गौतमका चरित्र अलौकिक है। इनके-ऐसा त्याग, वैराग्य और तप कहाँ देखनेको मिलेगा!

व्यासशिष्यगण

युगानुसार मनुष्योंकी आयु, शक्ति और बुद्धि क्षीण हो जाती है, इससे ब्रह्मवेत्ता ऋषिगण अपने हृदय-देशमें स्थित परमात्माकी प्रेरणासे वेदोंका विभाजन कर देते हैं। इस वैवस्वत मन्वन्तरमें भी ब्रह्मा-शंकर आदि देवाधिपतियोंकी प्रार्थनासे अखिल विश्वके जीवनदाता भगवान्ने धर्मकी रक्षाके लिये महर्षि पराशरद्वारा सत्यवतीके गर्भसे अपने कलांशस्वरूप व्यासके रूपमें अवतार ग्रहण किया है। उन्होंने ही वर्तमान युगमें वेदके चार विभाग किये हैं। जैसे मणियोंके समूहमेंसे विभिन्न जातिकी मणियाँ छाँटकर अलग-अलग कर दी जाती हैं। वैसे ही भगवान् वेदव्यासने मन्त्र-समुदायोंमेंसे भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके अनुसार मन्त्रोंका संग्रह करके उनसे ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—ये चार संहिताएँ बनायीं और अपने चार शिष्योंको बुलाकर प्रत्येकको एक-एक संहिताकी शिक्षा दी। उन्होंने 'बह्वृच' नाम की पहली ऋक्-संहिताको पैलको, 'निगद' नामकी दूसरी यजुःसंहिता वैशम्पायनको, सामश्रुतियोंकी 'छन्दोगसंहिता' जैमिनिको और सुमन्तुको 'अथर्वाङ्गिरससंहिता' का अध्ययन कराया। समस्त पुराणोंका सूतजीको एवं श्रीमद्भागवतका श्रीशुकदेवजीको अध्ययन कराया। आगे

चलकर इन शिष्योंके बहुतसे शिष्य-प्रशिष्य हुए।

श्रीलोमशजी

ये चिरंजीवी महर्षि हैं। शरीरपर बहुतसे रोम होनेके कारण इनको लोमश कहते हैं। द्विपरार्ध व्यतीत होनेपर जब ब्रह्माकी आयु समाप्त होती है तो इनका एक रोम गिरता है। यद्यपि ब्रह्माजीकी आयु बहुत बड़ी है। इनका एक कल्प (हजार चतुर्युगी)-का दिन होता है और इतनी ही बड़ी रात्रि भी होती है। इस प्रकार तीस दिनका महीना और बारह महीनेके सालके हिसाबसे ब्रह्माजीकी सौ बरसकी आयु है, लेकिन श्रीलोमशजीकी दृष्टिमें मानो रोज-रोज ब्रह्माजी मरते ही रहते हैं। एक बार तो अपनी दीर्घायुष्यतासे अकुलाकर इन्होंने भगवान्से मृत्युका वरदान माँगा। प्रभुने उत्तर दिया कि यदि 'जल-ब्रह्म' की अथवा ब्राह्मणकी निन्दा करो तो उस महापातकसे आप भले ही मर सकते हो, अन्यथा आपके यहाँ कालकी दाल नहीं गलनेवाली है। इन्होंने कहा कि अच्छा! आश्रममें जाकर मैं वैसा ही करूँगा। मार्गमें इन्होंने थोड़ा-सा जल देखा, जो कि शूकरके लोटनेसे अत्यन्त गँदला हो गया था। वहींपर इन्होंने देखा कि एक स्त्री, जिसके गोदमें दो बालक थे, पहले एक बालकको स्तनपान कराकर, फिर अपना स्तन धोकर तब दूसरे बच्चेको स्तन पिला रही है। श्रीलोमशजीने इसका कारण पूछा तो उसने कहा कि यह एक पुत्र तो ब्राह्मणके तेजसे है और दूसरा नीच जातिके मेरे पतिसे जन्मा है। अतएव मैंने ब्राह्मणोद्भव बालकको धोये स्तनका दूध पिलाया है।

श्रीलोमशजीका नियम था कि वह नित्य ब्राह्मणका चरणोदक लेते थे। आज उन्होंने अभी नहीं लिया था। दूसरा जल और दूसरा ब्राह्मण मिला नहीं, अतः उन्होंने उसी जलसे ब्रह्मवीर्यसे उत्पन्न उसी बालकका चरणामृत ले लिया। उसी समय प्रभु प्रकट हो गये और बोले कि तुमने जब ऐसे जलको भी आदर दिया और ऐसे ब्राह्मणके चरणसरोजकी भी भक्ति की तो तुम भला जल या विप्रके निन्दक कब हो सकते हो! मैं तुमसे अति प्रसन्न हूँ और आशीर्वाद देता हूँ कि विप्रप्रसादसे तुम चिरंजीव ही बने रहोगे। तभी तो कहा गया है कि—***'हरितोषन ब्रत द्विज सेवकाई॥' 'पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥'*** (रामा०)

श्रीलोमशजी इतने दीर्घायु होकर भी शरीरकी क्षणभंगुरताका निरन्तर अनुसन्धान करते हुए सर्वथा अपरिग्रहपूर्वक सदा-सर्वदा हरिचिन्तनमें तल्लीन रहते हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें एक कथा आती है कि एक बार देवराज इन्द्रने अपनेको अमर मानकर एक बड़ा विशाल महल बनवाना प्रारम्भ किया। बेचारा विश्वकर्मा पूरे सौ वर्षतक कन्नी-बसुली चलाता रहा, परंतु तब भी जब निर्माण-कार्यका पर्यवसान उन्हें नहीं दीख पड़ा तो घबराकर वह मन-ही-मन ब्रह्माजीकी शरण गया। ब्रह्माजीने भगवान्से प्रार्थना की। भगवान् एक ब्राह्मण-बालकका रूप धारणकर इन्द्रके पास पहुँचे और पूछा—देवेन्द्र! आपके इस निर्माण-कार्यमें कितने विश्वकर्मा लगे हैं और कबतक यह पूर्ण होगा? इन्द्र तो आजतक एक ही विश्वकर्माको जानते थे। यह प्रश्न सुनकर कुछ चकराकर पूछा—क्या विश्वकर्मा भी कई हैं? तब बालकरूपधारी भगवान्ने इन्द्रसे सृष्टिका आनन्त्य वर्णन करते हुए नीचे जाते हुए दो सौ गज लम्बे-चौड़े चींटोंके समुदायकी ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया और कहा कि ये सब पहले कभी इन्द्र हो चुके हैं। पुण्य क्षीण होनेपर अब इस गतिको प्राप्त हैं। इन्द्रके पाँवके नीचेकी जमीन खिसक गयी। भगवान् यह कह ही रहे थे कि महर्षि लोमश भी सिरपर चटाई रखे वहाँ आ पहुँचे। वस्तुतस्तु भगवान्ने उनका स्मरण किया था। इन्द्रने यथोचित सत्कार किया। तदनन्तर भगवान्ने जब मुनिसे सिरपर चटाई रखने एवं वक्षःस्थलपरके रोमरिक्त स्थानके रहस्यको जाननेकी इच्छा

की तो मुनिने बड़ी शान्तिपूर्वक कहा—जीवन क्षणभंगुर है। इस थोड़ी-सी आयुके लिये संग्रह-परिग्रह तथा कुटिया आदि बनानेकी कौन खटपट करे। यह चटाई मुझे पर्याप्त छाया दे देती है। मैंने अपनी आँखोंसे न जाने कितने इन्द्र और ब्रह्माका विनाश देखा है। इनकी मृत्युपर मेरा एक रोम गिर जाता है। यही विचारकर मैं समस्त जगत्प्रपंचसे मुँह मोड़कर, भगवन्नामका एकमात्र सहारा लेकर, पर्यटन करता रहता हूँ। इन्द्रको अपनी भूल समझमें आ गयी और उन्होंने निर्माण-कार्य बन्द कर दिया।

एक बार श्रीलोमशजीने श्रीनारदजीसे पूछा—आप कहाँसे आ रहे हैं? श्रीनारदजीने कहा—मैं नित्यप्रति भगवान् श्रीरामका दर्शन करने श्रीअयोध्या जाता हूँ। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने भी लिखा है—**'*नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥ दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं। देखि नगरु बिरागु बिसरावहिं॥*'** (रा०च०मा० ७। २७। १-२) श्रीलोमशजी काकभुसुण्डिजीकी तरह श्रीनारदजीको भी ब्रह्मज्ञानका उपदेश करने लगे। श्रीनारदजीको यह उपदेश नहीं रुचा। भगवान्से शिकायत की, तब भगवान्ने इन्हें भी श्रीमार्कण्डेयजीकी तरह मायाका दर्शन कराया। इन्होंने मायाके प्रलयपयोधिमें डूबते-उतराते वैकुण्ठमें पहुँचकर भगवान् विष्णुसे रक्षाकी प्रार्थना की तो भगवान् विष्णुने कहा—हम तो एक ब्रह्माण्डके पालक हैं और यह माया अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक श्रीरामजीकी है, अतः आप श्रीरामजीकी शरण ग्रहण करें। लोमशजी जिस भी ब्रह्माण्डमें पहुँचते वहाँ यही आदेश होता, तब भटकते-भटकते जब वे श्रीअयोध्याजी पहुँचे तो इन्होंने प्रथम श्रीसरजूजीमें स्नान किया, तब श्रीरघुनाथजीका दर्शन हुआ। **'त्राहि-त्राहि'** कहकर ये चरणोंमें पड़े, तब मायासे छूटे। फिर तो इन्होंने खूब श्रीरामजीका यश गाया; जो लोमशरामायणके नामसे प्रसिद्ध है।

श्रीभृगुजी

भृगु ब्रह्माजीके मानसपुत्रोंमेंसे एक हैं। ये एक प्रजापति भी हैं। चाक्षुष मन्वन्तरमें इनकी सप्तर्षियोंमें गणना होती है। इनकी तपस्याका अमित प्रभाव है। दक्षकी कन्या ख्यातिको इन्होंने पत्नीरूपसे स्वीकार किया था; उनसे धाता-विधाता नामके दो पुत्र और 'श्री'नामकी एक कन्या हुई। इन्हीं श्रीका पाणिग्रहण भगवान् नारायणने किया था। इनके और बहुत-सी संतान हैं, जो विभिन्न मन्वन्तरोंमें सप्तर्षि हुआ करते हैं। वाराहकल्पके दसवें द्वापरमें महादेव ही भृगुके रूपमें अवतीर्ण होते हैं। कहीं-कहीं स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षियोंमें भी भृगुकी गणना है। सुप्रसिद्ध महर्षि च्यवन इन्हींके पुत्र हैं। इन्होंने अनेकों यज्ञ किये-कराये हैं और अपनी तपस्याके प्रभावसे अनेकोंको सन्तान प्रदान की है। ये श्रावण और भाद्रपद दो महीनोंमें भगवान् सूर्यके रथपर निवास करते हैं। प्रायः सभी पुराणोंमें महर्षि भृगुकी चर्चा आयी है। उसका अशेषतः वर्णन तो किया ही नहीं जा सकता। हाँ, उनके जीवनकी एक बहुत प्रसिद्ध घटना, जिसके कारण सभी भक्त उन्हें याद करते हैं, यहाँ दी जा रही है—

एक बार सरस्वती नदीके तटपर ऋषियोंकी बहुत बड़ी परिषद् बैठी थी। उसमें यह विवाद छिड़ गया कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनोंमें कौन बड़ा है? इसका जब कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं हुआ तब इस बातका पता लगानेके लिये सर्वसम्मतिसे महर्षि भृगु ही चुने गये। ये पहले ब्रह्माकी सभामें गये और वहाँ अपने पिताको न तो नमस्कार किया और न स्तुति की। अपने पुत्रकी इस अवहेलनाको देखकर ब्रह्माके मनमें बड़ा क्रोध आया, परंतु उन्होंने अपना पुत्र समझकर इन्हें क्षमा कर दिया, अपने क्रोधको दबा लिया। इसके बाद ये कैलासपर्वतपर अपने बड़े भाई रुद्रदेवके पास पहुँचे। अपने छोटे भाई भृगुको आते देखकर आलिंगन करनेके लिये वे बड़े प्रेमसे आगे बढ़े, परंतु भृगुने यह कहकर कि तुम उन्मार्गगामी हो

उनसे मिलना अस्वीकार कर दिया। उन्हें बड़ा क्रोध आया और वे त्रिशूल उठाकर मारनेके लिये दौड़ पड़े। अन्तत: पार्वतीने उनके चरण पकड़कर प्रार्थना की और क्रोध शान्त किया। अब विष्णुभगवान्‌की बारी आयी। ये बेखटके वैकुण्ठमें पहुँच गये। वहाँ ब्राह्मण भक्तोंके लिये कोई रोक-टोक तो है नहीं। ये पहुँच गये भगवान्‌के शयनागारमें। उस समय भगवान् विष्णु सो रहे थे और भगवती लक्ष्मी उन्हें पंखा झल रही थीं, उनकी सेवामें लगी हुई थीं। इन्होंने बेधड़क वहाँ पहुँचकर उनके वक्ष:स्थलपर एक लात मारी। तुरंत भगवान् विष्णु अपनी शय्यापरसे उठ गये और इनके चरणोंपर अपना सिर रखकर नमस्कार किया और कहा—'भगवन्! आइये, आइये, विराजिये, आपके आनेका समाचार न जाननेके कारण ही आपके स्वागतसे वंचित रहा। क्षमा कीजिये! क्षमा कीजिये! कहाँ तो आपके कोमल चरण और कहाँ यह मेरी वज्रकर्कश छाती! आपको बड़ा कष्ट हुआ।' यह कहकर उनके चरण अपने हाथों दबाने लगे। उन्होंने कहा—'ब्राह्मण देवता! आज आपने मुझपर बड़ी कृपा की। आज मैं कृतार्थ हो गया। अब ये आपके चरणोंकी धूलि सर्वदा मेरे हृदयपर ही रहेगी।' कुछ समय बाद महर्षि भृगु वहाँसे लौटकर ऋषियोंकी मण्डलीमें आये और अपना अनुभव सुनाया। इनकी बात सुनकर ऋषियोंने एक स्वरसे यह निर्णय किया कि जो सात्त्विकताके प्रेमी हैं, उन्हें एकमात्र भगवान् विष्णुका ही भजन करना चाहिये। महर्षि भृगुका साक्षात् भगवान्‌से सम्बन्ध है, इनकी स्मृति हमें भगवान्‌की स्मृति प्रदान करती है।

श्रीदाल्भ्यजी

विप्रवर श्रीदाल्भ्यजीने भगवान् श्रीदत्तात्रेयजीसे भक्ति-योगकी शिक्षा पायी थी, इनकी साधनासे सन्तुष्ट होकर भगवान् श्रीहरिने दर्शन दिया था। इन्होंने धर्म-ज्ञान-वैराग्य-भक्ति-प्रतिपादक संहिता-ग्रन्थका प्रणयन किया था, जिसे 'दाल्भ्यसंहिता' कहते हैं। इनकी परमभागवतोंमें गणना की जाती है। यथा—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीनेतानहं परमभागवतान्नमामि॥*

श्रीअंगिराजी

महर्षि अंगिरा भी ब्रह्माके एक मानसपुत्र और प्रजापति हैं। इनकी तपस्या और उपासना इतनी तीव्र थी कि इनका तेज और प्रभाव अग्निकी अपेक्षा भी अधिक बढ़ गया। उस समय अग्निदेव भी जलमें रहकर तपस्या करते थे। जब उन्होंने देखा कि अंगिराके तपोबलके सामने मेरी तपस्या और प्रतिष्ठा तुच्छ हो रही है, तब बड़े सन्ताप और ग्लानिके साथ वे महर्षि अंगिराके पास आये। महर्षि अंगिराने उनके विषादका अनुभव करके कहा—'आपके सन्तप्त होनेका कोई कारण नहीं है, आप बड़ी प्रसन्नताके साथ लोगोंका कल्याण करें।'

अग्निने गिड़गिड़ाकर कहा—'मेरी कीर्ति नष्ट हो रही है; अब मुझे कोई अग्नि कहकर सम्मान नहीं करेगा। आप प्रथम अग्नि हैं और मैं द्वितीय अग्नि हूँ।' उस समय महर्षि अंगिराने कहा—'आप अग्निके रूपमें देवताओंको भोजन पहुँचायें और स्वर्ग चाहनेवालोंको उनका मार्ग बतायें तथा अपनी दिव्य ज्योतिद्वारा मुमुक्षुओंका अन्त:करण शुद्ध करें, मैं आपको पुत्रके रूपमें वरण करता हूँ।' अग्निदेवने बड़ी प्रसन्नताके साथ उनकी बात स्वीकार की और बृहस्पति नामसे उनके पुत्रके रूपमें प्रसिद्ध हुए।

कहीं-कहीं ऐसी कथा भी आती है कि अंगिरा अग्निके पुत्र हैं। यह बात कल्पभेदमें ही बन सकती

* प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुण्डरीक, व्यास, अम्बरीष, शुकदेव, शौनक, भीष्म, दाल्भ्य, रुक्मांगद, अर्जुन, वसिष्ठ, विभीषण आदि—इन परम भागवतोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

है। इनकी पत्नी दक्षप्रजापतिकी पुत्री स्मृति थीं, जिनसे अनेकों पुत्र और कन्याएँ उत्पन्न हुईं।

शिवपुराणमें ऐसी कथा आती है कि युग-युगमें भगवान् शिव व्यासावतार ग्रहण करते हैं; उनमें वाराहकल्पमें वेदोंके विभाजक, पुराणोंके प्रदर्शक और ज्ञानमार्गके उपदेशक अंगिरा ही व्यास थे। वाराहकल्पके नवें द्वापरमें महादेवने ऋषभ नामसे अवतार ग्रहण किया था। उस समय उनके पुत्ररूपमें महर्षि अंगिरा थे। एक बार भगवान् श्रीकृष्णने व्याघ्रपाद ऋषिके आश्रमपर महर्षि अंगिरासे पाशुपतयोगकी प्राप्तिके लिये बड़ी दुष्कर तपस्या की थी। इनके पुत्रोंमें बृहस्पति-जैसे ज्ञानी और अनेकों मन्त्रद्रष्टा थे। ये बहुधा देवर्षि नारदके साथ विचरते रहते हैं और वृत्रासुरके पूर्वजन्ममें जबकि वह चित्रकेतु था, इन्होंने उसकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसे पुत्र प्रदान किया और पुत्रके मर जानेपर उसे संसारसे वैराग्यका उपदेश करके भगवत्प्राप्तिका मार्ग बताया, जिससे चित्रकेतुको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हुई। अभी थोड़े दिन हुए महर्षि अंगिरारचित एक 'भक्तिदर्शन' प्राप्त हुआ है। उसमें भक्तिशास्त्रकी बड़ी ही मार्मिक और पूर्ण व्याख्या हुई है। एक महर्षि अंगिराकी स्मृति भी है, जिसमें धर्म-कर्मका बड़ा सुन्दर निरूपण हुआ है। संक्षेपमें महर्षि अंगिरा सप्तर्षियोंमें एकके रूपमें जगत्का धारण करते हैं तथा ज्ञान, भक्ति और कर्मके विस्तारके द्वारा सुप्त जीवोंको जाग्रत् करके भगवान्की ओर अग्रसर करते हैं। पुराणोंमें इनका चरित्र भी विस्तारसे मिलता है।

श्रीशृंगी ऋषिजी

इनके जन्मकी कथा इस प्रकारसे है कि एक बार विभाण्डकमुनि एक कुण्डमें समाधि लगाये बैठे थे। उसी समय उर्वशी अप्सरा उधरसे आ निकली। उसे देखकर उनका वीर्य स्खलित हो गया, जिसे जलके साथ एक प्यासी मृगी पी गयी। उस मृगीसे इनका जन्म हुआ। माताके समान इनके सिरपर भी एक सींग थी, अतः इनका नाम ऋष्यशृंग पड़ा। ये सदा वनमें अपने पिता विभाण्डकके पास रहनेके कारण किसी स्त्री अथवा पुरुषको नहीं जानते थे। इस प्रकार इन्हें ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने, अग्नि और पिताकी सेवा करते बहुत काल बीत गया। उसी समय अंगदेशमें रोमपाद नामक प्रतापी राजा हुए। उनके राज्यमें बड़ा भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। प्रजा भूखों मरने लगी। राजाने सुविज्ञ वेदज्ञ ब्राह्मणोंसे अपने कर्मोंका, जिसके कारण राज्यमें वर्षा नहीं हो रही है, प्रायश्चित्त पूछा। उन ब्राह्मणोंने राजाको यह उपाय बताया कि आप जैसे बने तैसे विभाण्डकमुनिके पुत्र ऋष्यशृंगको यहाँ ले आइये और उनका सत्कार करके यथाविधि उनके साथ अपनी कन्या शान्ताका विवाह कर दीजिये।

राजा चिन्तित हुए कि ऋषिको कैसे यहाँ लाया जाय? बहुत सोच-विचारकर उन्होंने अपने पुरोहित और मन्त्रियोंसे कहा कि आप लोग जाकर ऋषिकुमारको ले आयें। परंतु उन लोगोंने निवेदन किया कि हम लोग वहाँ जानेमें विभाण्डकऋषिके शापसे डरते हैं। अतः स्वयं न जाकर किसी अन्य उपायसे उनको यहाँ ले आयेंगे, जिससे हमको दोष न लगे। मन्त्री और पुरोहितोंने निर्विघ्न कृतकार्य होनेका यह उपाय बताया कि रूपवती वेश्याएँ सत्कारपूर्वक भेजी जायँ। वे अपने कौशलसे उन्हें ले आयेंगी। राजाने वैसा ही उपाय करनेको कहा। वेश्याएँ भेजी गयीं। आश्रमके निकट पहुँचकर वे धीर ऋषिपुत्रके दर्शनका प्रयत्न करने लगीं। ऋष्यशृंगने आजतक स्त्री, पुरुष, नगर या राज्यके अन्य जीवोंको कभी नहीं देखा था। दैवयोगसे वे एक दिन उस जगह पहुँचे, जहाँ वेश्याएँ टिकी हुई थीं। तब मधुर स्वरसे गाती हुई वे सब उनके पास आकर बोलीं कि आप कौन हैं? और किसलिये इस निर्जन वनमें अकेले फिरते हैं? उन्होंने अपना पूरा परिचय दिया और उनको अपने आश्रमपर लिवा ले जाकर अर्घ्य-पाद्य, फल-मूलसे उनका सत्कार किया। वेश्याओंने भी उनको तरह-तरहकी मिठाइयाँ यह कहकर खिलायीं कि ये हमारे यहाँके फल हैं, इनको चखिये। फिर

उनका आलिंगनकर वे विभाण्डकजीके भयसे झूठ-मूठ व्रतका बहाना बनाकर वहाँसे चली आयीं। वेश्याओंके चले जानेसे ऋष्यश्रृंगजी उदास हो गये।

दूसरे दिन वे फिर वहाँ पहुँचे, जहाँ पहले दिन मनको मोहनेवाली उन वेश्याओंसे भेंट हुई थी। इनको देखकर वेश्याएँ प्रसन्न हुईं और इनसे बोलीं कि आइये, आप हमारा भी आश्रम देखिये, यहाँकी अपेक्षा वहाँ इससे भी उत्तम फल मिलेंगे और अधिक उत्तम सत्कार होगा। ये वचन सुनकर वे साथ चलनेको राजी हो गये और वेश्याएँ उनको अपने साथ ले आयीं। उन महात्माके राज्यमें आते ही सहसा जलकी बहुत वर्षा हो गयी, जिससे प्रजा सुखी हुई। वर्षा होनेसे राजा जान गये कि मुनि आ गये। राजाने उनके पास जाकर दण्डवत् प्रणामकर उनका अर्घ्य-पाद्यादिद्वारा यथाविधि पूजन किया और उनसे वर माँगा कि वे एवं उनके पिता छलपूर्वक लाये जानेके कारण राजापर कोप न करें। फिर राजा उन्हें अपने रनिवासमें ले गये और अपनी पुत्री शान्ताका विवाह उनसे कर दिया। ऋष्यश्रृंग वहीं शान्ताके साथ रहने लगे।

अंगनरेश रोमपादजी श्रीअयोध्यानरेश महाराज दशरथजीके मित्र थे। श्रीवसिष्ठजीकी आज्ञाके अनुसार राजा दशरथ पुत्रेष्टियज्ञ करानेके लिये ऋष्यश्रृंगको लेने अंगदेश गये। श्रीरोमपादजीने मित्रभावसे उनका सत्कार किया और उनके अभिप्रायको जानकर ऋष्यश्रृंगसे शान्तासहित उनके साथ जानेका अनुरोध किया। वे राजी हो गये और उनके साथ श्रीअयोध्या आकर मंगलमुहूर्तमें पुत्रेष्टियज्ञका शुभारम्भ किया गया, जिसमें अग्निदेवने साक्षात् प्रकट होकर दिव्य चरु प्रदान किया, जिसको पाकर रानियोंने गर्भ धारण किया। यथा—
'सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्रकाम सुभ जग्य करावा॥ भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें॥'

श्रीमाण्डव्यजी

महात्मा माण्डव्यके शापसे साक्षात् धर्मराज ही विदुररूपमें उत्पन्न हुए थे। कथा इस प्रकार है—एक बार राजपुरुषोंद्वारा पीछा किये जानेपर बहुतसे चोर चोरीका माल महर्षि माण्डव्यजीके आश्रममें रखकर स्वयं भी वहीं छिप गये। मुनि ध्यानस्थ थे। उन्हें इस बातकी किंचित् जानकारी नहीं थी। अतः राजपुरुषोंके पूछनेपर उन्होंने कुछ नहीं कहा, तब उन राजपुरुषोंने आश्रममें खोज-बीन प्रारम्भ की तो चोर एवं चोरीका माल, दोनों ही बरामद हुए। फिर तो उनका मुनिपर भी सन्देह हो गया और चोरोंके साथ उन्हें भी राजाके सम्मुख पेश किया गया। राजाने शूलीपर चढ़ा देनेका हुक्म दे दिया। अन्य चोर तो तत्काल मृत्युको प्राप्त हो गये परंतु महामुनि माण्डव्य शूलीके अग्रभागपर बैठे हुए तप ही करते रहे। बहुत दिनोंतक इस प्रकार तपोधन मुनिको शूलीपर बैठे देखकर राजकर्मचारियोंने जाकर राजासे यह सब समाचार निवेदन किया। राजा तत्काल ही दौड़े आये और विविध प्रकारसे अनुनय-विनयकर अपराधके लिये क्षमा-याचना करते हुए मुनिको शूलीसे उतार दिया। शूलकी किंचित् अणी शरीरमें प्रविष्ट हो गयी थी जो निकालनेका प्रयत्न करनेपर भी नहीं निकल सकी तो उसे उतना काट दिया गया। शूलकी अणीको शरीरमें धारण करनेसे आगे चलकर इनका नाम अणीमाण्डव्य पड़ गया।

एक बार महर्षिने धर्मराजके पास जाकर उन्हें उलाहना देते हुए कहा—मैंने अनजानेमें कौन-सा ऐसा पाप किया है, जिसके फलका भोग मुझे इस रूपमें प्राप्त हुआ? मुझे शीघ्र इसका रहस्य बताओ और फिर मेरी तपस्याका फल देखो। धर्मराजने कहा—आपने बाल्यावस्थामें एक पतिंगेके पुच्छभागमें सींक चुभो दिया था, उसीका यह फल मिला। ऋषिने कहा—एक तो बाल्यावस्थामें धर्मशास्त्रका ज्ञान नहीं होता, दूसरे तुमने थोड़े-से अपराधमें मुझे बहुत बड़ा दण्ड दिया है, अतः मैं तुम्हें शाप दूँगा। धर्मराजने कहा कि यदि आप

मुझे शाप ही देना चाहते हैं तो कृपाकर राजा, दासीपुत्र एवं चाण्डाल होनेका शाप न दीजियेगा। मुनिने क्रुद्ध होकर कहा—तुम तीनों हो जाओ। इसी शापके फलस्वरूप धर्मराजने राजा युधिष्ठिर, दासीपुत्र विदुर एवं श्वपच भक्तके रूपमें जन्म लेकर मुनिके शापको सफल किया।

श्रीविश्वामित्रजी

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥*

महर्षि विश्वामित्रजीके समान सतत लगनके पुरुषार्थी ऋषि शायद ही कोई और हों, इन्होंने अपने पुरुषार्थसे क्षत्रियत्वसे ब्रह्मत्व प्राप्त किया। राजर्षिसे ब्रह्मर्षि बने, सप्तर्षियोंमें अग्रगण्य हुए और वेदमाता गायत्रीके द्रष्टा ऋषि हुए।

प्रजापतिके पुत्र कुश हुए। इन्हींके वंशमें एक महाराज गाधि हुए, उन्हींके पुत्र महाराज विश्वामित्र हैं। कुशवंशमें पैदा होनेसे इन्हें कौशिक भी कहते हैं। पहले ये एक बड़े धर्मात्मा प्रजापालक राजा थे। एक बार सेना साथ लेकर ये जंगलमें शिकारके लिये गये। वहाँपर ये भगवान् वसिष्ठके आश्रमपर पहुँचे। भगवान् वसिष्ठने इनकी कुशल-क्षेम पूछी और सेनासहित आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करनेकी प्रार्थना की।

विश्वामित्रजीने कहा—'भगवन्! हमारे साथ हजारों-लाखों सैनिक हैं, आप अरण्यवासी ऋषि हैं, आपने जो फल-फूल दिये, उसीसे हमारा सत्कार हो चुका। हम इसी सत्कारसे सन्तुष्ट हैं।'

महर्षि वसिष्ठने उनसे बहुत आग्रह किया, उनके आग्रहसे इन्होंने सेनासहित आतिथ्य ग्रहण करनेकी स्वीकृति दे दी। वसिष्ठजीने अपने योगबलसे कामधेनुकी सहायतासे समस्त सैनिकोंको भाँति-भाँतिके पदार्थोंसे खूब ही सन्तुष्ट किया। कामधेनुके ऐसे प्रभावको देखकर विश्वामित्रजी चकित हो गये। उनकी इच्छा हुई कि यह धेनु हमें मिल जाय। उन्होंने इसके लिये भगवान् वसिष्ठसे प्रार्थना की। वसिष्ठजीने कहा—'इसीके द्वारा मेरे यज्ञ-याग, अतिथिसेवा आदि सब कार्य होते हैं, इसे मैं नहीं दूँगा।' इसपर विश्वामित्रजी जबरदस्ती कामधेनुको ले चले। वसिष्ठजी सब चुपचाप शान्तिपूर्वक देखते रहे। कामधेनुने आज्ञा चाही कि वह अपनी रक्षा स्वयं कर ले। तब उन्होंने स्वीकृति दे दी। कामधेनुने अपने प्रभावसे लाखों सैनिक पैदा किये। विश्वामित्रजीकी सेना भाग गयी। वे पराजित हो गये। इससे उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने कहा—'क्षत्रियबल—शारीरिक बलको धिक्कार है, ब्रह्मबल ही सच्चा बल है।' यह सोचकर उन्होंने राज-पाट छोड़ दिया और घोर तपस्या करने लगे। तपस्यामें भाँति-भाँतिके विघ्न होते हैं। सबसे पहले कामके विघ्न हुए। मेनका अप्सराने उनकी तपस्यामें विघ्न डाला, जब उन्हें होश हुआ तो पश्चात्ताप करते हुए फिर जंगलमें चले गये। वहाँ जाकर घोर तपस्यामें तल्लीन हो गये। कामके बाद क्रोधने विघ्न डाला। त्रिशंकु राजाको गुरु वसिष्ठका शाप था, आपने भगवान् वसिष्ठके वैरको याद करके उसे यज्ञ करनेके लिये कह दिया। सभी ऋषियोंको बुलाया। सब ऋषि उनके तपके प्रभावको सुनकर आ गये, किंतु भगवान् वसिष्ठजीके सौ पुत्र नहीं आये। इसपर क्रोधके वशीभूत होकर इन्होंने उन सबको मार डाला। इतनेपर भी वसिष्ठजीने उनसे कुछ नहीं कहा। तब तो उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। ओहो! यह तो मेरी तपस्यामें बड़ा विघ्न हुआ। तपस्वीको क्रोध करना घोर पाप है, वे सब छोड़कर फिर तपस्यामें रत हो गये। बहुत दिनकी घोर तपस्याके

---

* सब काम उद्यम करनेसे—पुरुषार्थसे ही सिद्ध होते हैं, केवल मनसे सोच लेनेसे ही सिद्ध नहीं होते। सिंह सोच ले कि मैं तो जंगलका राजा हूँ, मुझे पुरुषार्थ करनेसे क्या? और यह सोचकर सोता रहे तो क्या मृग उसके मुँहमें आकर स्वयं घुस जायँगे? कभी नहीं।

पश्चात् उन्हें बोध हुआ कि—'काम और क्रोध ही तपस्यामें बड़े विघ्न हैं। जिन्होंने काम-क्रोधको जीत लिया वही ब्रह्मर्षि है, वही महर्षि है, उसे ही सच्चा ज्ञान है। मैंने भगवान् वसिष्ठका कितना अनिष्ट किया, उनकी कामधेनुको भी जबरदस्ती लेने लगा। तब भी वे चुप रहे। उनके पुत्रोंको मार दिया, तब भी वे कुछ नहीं बोले। मुझमें यही दोष है, मैं भी वैसा ही बनूँगा, अब काम-क्रोधके वशीभूत न हूँगा।' ऐसा निश्चय करके वे काम-क्रोधको जीतकर बड़ी तत्परतासे तप करने लगे।

उनके घोर तपसे भगवान् ब्रह्माजी प्रसन्न हुए। वे इनके पास आये और वरदान माँगनेको कहा। इन्होंने कहा—'यदि आप मुझे योग्य समझें तो ब्रह्मर्षि बननेका आशीर्वाद दें और स्वयं भगवान् वसिष्ठ अपने मुँहसे मुझे ब्रह्मर्षि कह दें।'

इनकी तपस्यासे वसिष्ठजी पहले ही प्रसन्न हो चुके थे। उन्हें पता चल चुका था कि विश्वामित्रजीने तपस्याके प्रभावसे काम-क्रोधको जीत लिया है, इसलिये ब्रह्माजीके कहनेपर उन्होंने बड़े ही आदरसे विश्वामित्रजीको ब्रह्मर्षिकी उपाधि दी। उन्हें गलेसे लगाया, उनके तपकी, सच्ची लगनकी—सतत उद्योगकी प्रशंसा की और सप्तर्षियोंमें उन्हें स्थान दिया।

उसीके प्रभावसे ये जगत्पूज्य हुए। दशरथजीके यहाँसे भगवान् श्रीरामजीको ले आये, उन्हें सब प्रकारकी विद्याएँ दीं, मिथिला ले जाकर श्रीसीताजीसे विवाह कराया और अन्तमें त्रैलोक्यको कँपानेवाले रावणका वध कराया। महर्षि विश्वामित्रजीका समस्त जीवन तपस्या और परोपकारमें ही व्यतीत हुआ।

श्रीदुर्वासाजी

महर्षि अत्रिजीके तपसे सन्तुष्ट होकर भगवान् शिव ही दुर्वासारूपसे उनके पुत्र बने थे। रुद्रावतार थे, अतः स्वभावमें रौद्रता स्वाभाविक थी; परंतु थे परम समर्थ। पुराणोंमें आपकी बड़ी विलक्षण कथाएँ मिलती हैं। पूर्वमें श्रीअम्बरीषजी एवं द्रौपदीजीके प्रसंगमें इनका स्मरण किया जा चुका है। एक प्रसंग यहाँ भी दिया जा रहा है। एक बार ये यह कहते हुए घूम रहे थे कि—मैं दुर्वासा हूँ, दुर्वासा। मुझे निवास करनेके लिये एक स्थान चाहिये। परंतु याद रखना—मुझे तनिकसे भी अपराधपर क्रोध आ जाता है। भला, जानबूझकर कौन विपत्ति बुलाने लगा? तीनों लोकोंमें किसीने भी अपने यहाँ रखनेका साहस नहीं किया। अन्तमें घूमते-घूमते श्रीद्वारका पहुँचे। सबके परमाश्रय भगवान् श्रीकृष्णने इन्हें आदरपूर्वक बुलाकर अपने निजसदनमें वास दिया। कभी तो ये हजारों मूर्तियोंका भोजन अकेले ही खा जाते थे, कभी एक बालककी तरह थोड़ा पाकर ही रह जाते थे। कभी दिनमें बाहर निकल जाते तो दिनभर लौटते ही नहीं। भोजन धरा ही रह जाता था। कभी आधी रातको भोजन माँगते। सर्वसमर्थ प्रभुने सब व्यवस्था की। एक दिन इन्होंने अपने ठहरनेके स्थानमें आग लगा दी। सब कुछ जलकर भस्म हो गया और अपने दौड़े-दौड़े श्रीकृष्णके पास आकर बोले—मैं अभी-अभी खीर खाना चाहता हूँ। श्रीकृष्णका संकेत पाते ही महारानी श्रीरुक्मिणीजी तुरंत स्वर्णथालमें खीर परोसकर लायीं। दुर्वासाजी थोड़ी-सी खीर खाकर श्रीकृष्णसे बोले—अब इस जूठी खीरको तुरंत अपने अंगोंमें पोत लो और रुक्मिणीजीको भी पोत दो। भगवान्ने वैसा ही किया।

तदनन्तर मुनिजीने श्रीरुक्मिणीजीको एक रथमें जोतकर, उसपर स्वयं सवार होकर, जिस तरह सारथी घोड़ेको चाबुक मारता है, उसी तरह कोड़े मारते हुए रथ चलाने लगे। रथ राजमार्गसे जा रहा था। भयवश किसीको कुछ कहनेका साहस नहीं हो रहा था। श्रीरुक्मिणीजी अत्यन्त श्रमित होकर जब पृथ्वीपर गिर पड़ीं तो आप रथसे कूदकर दक्षिण दिशाकी ओर भागने लगे। पीछे-पीछे श्रीकृष्ण भी दौड़े और कहते जा रहे थे कि 'भगवन्! प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये।' तब दुर्वासा खड़े हो गये और बोले—वासुदेव! तुमने